सरस्वती पब्लिशिङ्ग हाउस,
जार्ज टाउन, इलाहाबाद

मुद्रक—
परशोतम सहाय,
सरस्वती प्रिण्टिङ्ग प्रेस,
जार्ज टाउन, इलाहाबाद

भूमिका

जिस समय मैंने अपने प्रान्त की शिक्षा के माध्यमिक विभाग को छोड़ कर प्राइमरी विभाग को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया, उस समय मुझे अनुभव हुआ कि मैं जिस क्षेत्र में उतर रहा था, मुझे उसके इतिहास का ज्ञान प्रायः बिलकुल नहीं था। इसलिए मैंने इस प्रान्त की प्राइमरी शिक्षा को अपना अध्ययन-विषय बना लिया। सुविधानुसार मैं ने अपने अध्ययन को तीन अङ्गों में विभक्त किया। सन् १८४० से १९२६ तक के ग्राम्य-शिक्षा के इतिहास की क्रमागत-तिथिवार प्रगति के वर्णन को मैंने प्रथम स्थान दिया। फिर मैंने उसी को वर्तमान समय तक, उन्नति के क्रम से अध्ययन कर दूसरा विषय बनाया और तीसरे को ग्राम्य-शिक्षा की समस्याओं को सुलझाने की दृष्टि से अपनी सम्मति प्रकट करने का आधार बनाया। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक मेरे अध्ययन के प्रथम अंश का परिणाम है।

संयुक्त-प्रान्त की ग्राम्य-शिक्षा के इतिहास की बातें अनुक्रम से देते हुए, उसके मुख्य अङ्ग को पाठकों के सामने रख देना ही इस ग्रन्थ का ध्येय है। यद्यपि सन् १९२१ से २६ के काल की घटनाएँ इतिहास की दृष्टि से बिलकुल नवीन हैं, तो भी, चूँकि सन् १९२६ में ही अनिवार्य शिक्षा का सिद्धान्त स्वीकृत हुआ, उस समय तक की बातों का समावेश कर देना आवश्यक था।

पाठकों को इस पुस्तक में संयुक्त-प्रान्त की शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर कुछ निश्चयात्मक विचार, उसके भविष्य की रूपरेखा या या तत्-विषयक किसी प्रकार की सुधार-योजनाएँ न मिलेंगी। मेरा विचार इन सब बातों को इसी विषय पर लिखी जाने वाली अन्य दो पुस्तकों में विशद-रूप में देने का है।

इस विषय के अध्ययन में मुझे डा० जे० डोवर विलसन, एम० ए०, डी० लिट्०, सर क्लाड डि ला फ़ोस, नाइट, सी० आई० ई०, और मिस्टर ए० ई० ट्वेन्टीमैन, एम० ए०, आदि ने अनेक सत् परामर्श दिये हैं, जिसके लिए मैं उन सज्जनों का बड़ा अभारी हूँ।

श्रीनारायण चतुर्वेदी

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

प्रस्तावना

हमारे देश के गाँवों में रहने वाले जन-समुदाय की शिक्षा की समस्या केवल स्थानीय ही नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध सारे ब्रिटिश साम्राज्य और अन्तर्राष्ट्र से भी है। भारतवर्ष में सारे संसार की जनसंख्या का आठवाँ भाग मौजूद है और ब्रिटिश-साम्राज्य की जन-संख्या का दो-तिहाई। फिर इस जनसंख्या में प्रायः १०० में से ९० मनुष्य गाँवों के रहने वाले हैं। यद्यपि हमारे देशवासी सुसंस्कृत हैं और हमारी सभ्यता कई हज़ार वर्ष की पुरानी हो गयी है, फिर भी हमारे यहाँ इस समय निरक्षरता और घोर अविद्या का साम्राज्य है—यहाँ तक कि सन् १९३१ में हमारे यहाँ की साक्षरता का अनुमान (स्त्री और पुरुष दोनों मिला कर) ८ प्रतिशत से अधिक नहीं था। यह निरक्षरता हमारे लिए लज्जाजनक ही नहीं है, बल्कि बड़ी चिन्ताजनक भी है, क्योंकि हमारे यहाँ के अपढ़, रुढ़ि-ग्रस्त और सीधे-सादे किसानों में हर प्रकार का आन्दोलन-प्रचार हो सकता है और ऐसी परिस्थिति में इनकी अज्ञानता न केवल राज्य के ही लिए, बल्कि सारे संसार की शान्ति के लिए भयावह समस्या हो सकती है। रूस देश का पिछले २० वर्ष का इतिहास हमारे इस कथन का प्रमाण है।

जनसंख्या के विचार से, भारतवर्ष में हमारे प्रान्त का दूसरा नम्बर है और हमारे यहाँ की जनसंख्या में १०० पीछे ८६ मनुष्य गाँव के निवासी हैं। इस कारण से हमारे यहाँ की ग्रामीण-जनता की समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है। और चूँकि हमारे यहाँ की जनता बहुत कम साक्षर है, इसलिए सार्वजनिक शिक्षा की समस्या वास्तव में प्रारम्भिक-शिक्षा की समस्या ही है।

अँगरेज़ों के अधिकार होने के पूर्व ही से हमारे प्रान्त में जन-साधारण की शिक्षा की बड़ी अधोगति थी, परन्तु पिछली शताब्दी के अन्तिम ५० वर्षों से अब तक ब्रिटिश सरकार ने ग्राम्य-क्षेत्रों में शिक्षा-प्रचार की बहुत-कुछ चेष्टा की है। हमारे यहाँ की देसी पाठशालाएँ, यद्यपि उस समय भी, बहुत कुछ अवनत हो गयी थीं, फिर भी वे उन लोगों की शिक्षा के लिए सुविधा प्रदान करने के लिए काफ़ी थीं, जो उस समय पढ़ने के अभिलाषी थे। इनमें से कुछ तो अवश्य ही ऊँचे दरजे की थीं, लेकिन अधिकाँश छोटी-छोटी ग्रामीण-पाठशालाएँ ही थीं, जिनमें नित्य-प्रति की साधारण परन्तु व्यावहारिक-शिक्षा दी जाती थी। इन पाठशालाओं की शिक्षा का विद्यार्थियों के आचरण पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता था।

ब्रिटिश-सरकार की शुरू में यह नीति रही कि इन्हीं पाठशालाओं द्वारा नयी शिक्षा प्रदान करने का प्रबन्ध किया जाय, ताकि गाँव की जनता नये क़ानूनों को और उनके द्वारा प्राप्त होने वाले अपने अधिकारों और अपने उत्तरदायित्त्व को समझ सके। परन्तु थोड़े ही समय बाद सरकारी पाठशालाएँ स्थापित करने की नीति जारी हो गयी, जिनमें

निःशुल्क शिक्षा दिये जाने के कारण लोग बड़ी उत्सुकता से पहुँचने लगे। ये दो तरह की पाठशालाएँ एक साथ जारी न रह सकती थीं और परिणाम यह हुआ कि देसी पाठशालाएँ अधिकाधिक संख्या में बन्द होने लगीं। इसका प्रभाव यहाँ तक फैला कि इन सरकारी पाठशालाओं की तरह की, सरकारी सहायता से चलने वाली पाठशालाएँ भी न पनप सकीं। इसका कारण यह था कि हमारे प्रान्त में जन-साधारण के उद्योग से शिक्षा की वैसी उत्तम व्यवस्था न हो सकी, जैसी सरकार द्वारा होती थी और चूँकि पाठशालाओं के कार्य-क्रम में कार्योपयुक्तता का ही सब से अधिक विचार रखा जाता है, इसलिए देसी या सरकार से सहायता प्राप्त स्कूल बहुत अधिक न चल सके।

सारी शिक्षा अब सरकार की देख-रेख में होती थी, परन्तु सरकार भी जनसाधारण का सहयोग प्राप्त करने के लिए उत्सुक थी और इसी उद्देश्य से पहले स्कूल कमिटियाँ और फिर ज़िला कमिटियाँ आदि बनाकर कई प्रयोग किये गये। इसके बाद जब से स्वायत्त-शासन का सिद्धान्त स्वीकृत हुआ, ग्राम्य-शिक्षा का प्रबन्ध अधिकाधिक रूप में जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की देख-रेख में होने लगा। यहाँ तक कि अब ग्रामीण शिक्षा का समस्त शासन-प्रबन्ध डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के हाथ में आ गया है जो अब पूर्ण रूप से जनसाधारण द्वारा निर्वाचित संस्थाएँ हैं और फिर १९२१ ई० के शासन-सुधार के समय से तो शिक्षा की नीति और उसकी प्रगति का सारा अधिकार भारतीय-शिक्षा-मन्त्री के अधिकार में आ गया है, जो अब अपने कार्यों के लिए जनता द्वारा मनोनीत व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी है।

अगर ज़रा गौर से देखा जाय तो हमारे प्रान्त के अधिकारियों ने शिक्षा को जनसाधारण में अधिकाधिक प्रसार करने की अपेक्षा उसके लक्षण-गुण पर अधिक ध्यान दिया है, यद्यपि हमारे यहाँ के पाठ्यक्रम में बराबर उन्नति होती रही है और उसे जनसाधारण की आवश्यकताओं के अनुसार उपयोगी बनाने का प्रयत्न भी किया जाता रहा है। इसी उद्देश्य से प्रेरित हो कर देसी स्कूलों के अध्यापकों के शिक्षण, उनके वेतन और उनकी भविष्योन्नति की ओर भी शिक्षा-विभाग का बराबर ध्यान रहा है। स्कूलों की इमारतें, उनका साज-सामान और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराने की ओर भी उन्नतिकारी चेष्टाएँ होती रही हैं और इस प्रकार अवश्य ही ग्राम्य-शिक्षा-प्रसार की नींव बराबर सुदृढ़ और सुसंगठित बनायी गयी है। परन्तु इस शिक्षा-प्रसार का परिणाम हमारे यहाँ की शिक्षा-प्राप्त लोगों की संख्या को देखते हुए कुछ अधिक उत्साहवर्द्धक नहीं है।

हमारी सरकार लोकोपकारी शिक्षा का ही प्रबन्ध कर सकती थी और यह उसने कर ही दिया, परन्तु वह लोगों को इसका उपयोग करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। हमारे प्रान्त की शिक्षा कुछ विशेष जातियों तथा कुछ विशेष वृत्तियों के लोगों तक ही परिमित थी और जब तक इन लोगों की माँग पूरी नहीं हो गयी, जितनी बार शिक्षा-प्रसार के लिए अधिकाधिक व्यय की माँग पेश की गयी, शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी बढ़ती गयी, परन्तु ग्राम्य-शिक्षा-विस्तार के लिए जो नयी योजनाएँ उपस्थित की गयीं, उन्होंने नयी माँग उत्पन्न करने के विपरीत पूर्त्ति ही बढ़ाने का काम किया और इसलिए इतना सब कुछ

होते हुए भी अभी तक वह दिन निकट नहीं आ पाया, जब हमारे देश में साक्षरता देशव्यापी हो जाय।

इन नये स्कूलों में जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती थी, उसकी ओर ग्रामीण जनता का बहुत अधिक आकर्षण न होने के आर्थिक और सामाजिक कारण हैं, क्योंकि वे लोग भी जो अपने बालकों को इन स्कूलों में पढ़ाने के लिए भेजते रहे हैं, इन्हीं कारणों से बाध्य हो कर उन्हें बहुत अधिक समय तक नहीं पढ़ा सके और इस कारण इन स्कूलों की शिक्षा से पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सके। इस प्रकार केवल अपनी प्रवृत्ति ही के कारण शिक्षा ग्रहण करने की लोगों की निर्बलता प्रकट हो गयी और ऐसी परिस्थिति में शिक्षा को अनिवार्य कर देने के सिवाय कोई दूसरा उपाय न रह गया।

इस प्रकार हमारे प्रान्त में ग्राम्य शिक्षा का इतिहास वास्तव में देसी भाषाओं की शिक्षा की नीव को सुदृढ़ करने के सफल प्रयास का ही लेखा कहा जा सकता है। हमारे यहाँ के प्रारम्भिक और मिडिल स्कूल, दूसरे प्रान्तों के अधिकांश ऐसे ही स्कूलों से, अपने विद्यार्थियों की संख्या को छोड़ कर, और किसी बात में कम नहीं हैं और इस संख्या-वृद्धि की मन्दोन्नति के लिए हमारे यहाँ का शिक्षा-विभाग उत्तरदायी नहीं है, क्योंकि किसी भी देश में अनिवार्यता के बिना विद्या का प्रचार जनसाधारण में नहीं हो सका है। हमारी सरकार सिद्धान्त रूप से अनिवार्य शिक्षा के विरोध में नहीं थी, लेकिन अधिक खर्चे और लोगों पर दबाव और ज़ोर-ज़ुल्म के भय से इसका सूत्रपात करने से हिचकती थी। दूसरे, सरकार को यह भी विश्वास था कि अनिवार्यता का समय अभी नहीं आया।

१६२६ ई० में अन्ततोगत्वा इस अनिवार्यता का भी श्रीगणेश हो गया और अब ज़िला बोर्ड और म्युनिसिपल बोर्ड संस्थाओं को इस बात का अधिकार प्राप्त हो गया है कि वे जहाँ-चाहे, अनिवार्य-शिक्षा का प्रसार करें।

इस प्रकार १६२६ ई० में हमारे प्रान्त के ग्राम्य-क्षेत्रों में, लोगों की प्रवृत्ति के अनुसार ही शिक्षा-प्रसार के लिए उद्योग करने का काण्ड समाप्त हो कर, अनिवार्यता की नींव पर शिक्षा-प्रसार का नवयुग शुरू होता है। पिछले ७५ वर्ष में सरकार ने शिक्षा की उन्नति के लिए जितने प्रयत्न किये हैं, उनके कारण इसकी नींव बड़ी सुदृढ़ हो गयी है और उसे सुसंगठित और सुचारू रूप से चलाने की परम्परा स्थायी हो गयी है। इसलिए अब हमारे यहाँ की शिक्षा के अनिवार्य कर देने में इस बात का भय नहीं रहेगा कि उसके कारण हमारी शिक्षा कृत्रिम या दिखावटी हो जाय और उसका कोई स्थायी मूल्य ही न हो।

ग्राम्य शिक्षा का इतिहास

पहला अध्याय

ग्रामवासी

(१) उसके साधन

संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध में नगर कम और गाँव अधिक हैं। सन् १९३१ की गणना के अनुसार इस प्रान्त की जन-संख्या ४,९६,१४,८३३ है। किन्तु उसमें से केवल १०.६ फ़ी सदी व्यक्ति ही नगरों में रहते हैं; शेष ८९.४ फ़ी सदी मनुष्य अपना जीवन गाँवों में बिताते हैं। इस प्रान्त में, ६७७ व्यक्ति एक वर्गमील कृषि-भूमि पर जीविका के लिए निर्भर हैं; अर्थात प्रत्येक व्यक्ति के बाँट में कठिनता से एक एकड़ भूमि आती है। फिर सब ज़िलों में यह औसत भी नहीं पड़ता। किसी-किसी ज़िले में तो १॥ एकड़ प्रति व्यक्ति तक का औसत बैठ जाता है। अतएव अब खेती के लिए और भूमि का मिलना अत्यन्त कठिन हो गया है।

भूमि पर जनता की आजीविका का अत्यधिक भार है। चूँकि खेती ही देश का एकमात्र प्रधान उद्यम है, इसलिए किसानों में खेत पाने के लिए बड़ी लागडाँट रहती है। फिर, भूमि अधिकतर ज़मींदारों के पास है, इससे किसानों की आपस की चढ़ाबढ़ी के कारण भूमि का लगान बहुत बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त खेतो करने के ढङ्ग भी पुराने हैं और यह होना भी स्वाभाविक है; क्योंकि खेत प्रायः इतने छोटे होते हैं कि उनमें नये ढङ्ग से खेती करना असम्भव सा है। इससे उपज भी अपेक्षाकृत कम ही होती है।

इस प्रान्त के गाँव भिन्न-भिन्न आकार के हैं। एक साधारण आकार के ग्राम में औसतन १०० या इससे कुछ अधिक घर होते हैं। कहीं-कहीं ज़मींदार गाँव में ही रहते हैं। ज़मींदार प्रायः ऊँची जाति के होते हैं। गाँव के अधिकांश घर कच्चे होते हैं। गाँव में साधारणतया एक मन्दिर अथवा एक मसजिद होती ही है। एक "चौपाल" भी होती है, जहाँ गाँव वाले बहुधा एकत्रित हुआ करते हैं।

इन गाँवों की जनता का वर्गीकरण कई तरह से—जातिवार, धन्धेवार या धन-संचय की कमी-बेशी के अनुसार—किया जा सकता है। यह सम्भव है कि ऐसे वर्गीकरण करने में जो वर्ग बनते हैं वे कभी-कभी एक दूसरे से मिलते-जुलते हों; फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि जो जाति में बड़ा हो वह धन में भी बड़ा हो। वस्तुतः धन की दृष्टि से गाँव की जनता का ठीक-

ठीक वर्गीकरण करना बड़ा कठिन कार्य है। हाँ, यदि गाँव के ज़मींदार और बौहरे को एक वर्ग में रख दिया जाय तो गाँव के शेष निवासी दूसरे वर्ग में रक्खे जा सकते हैं।

हिन्दुओं में तो चार जातियाँ हैं और यद्यपि इस्लाम जाति-पाँति का क़ायल नहीं, फिर भी सैयद को जुलाहे के प्रति अपनी उच्चता का इतना विचार तो स्वभावत: (और विशेषत: जहाँ विवाहादि के सम्बन्ध की बात हो) बना ही रहता है जितना कि ब्राह्मण में अपनी जाति से नीचे की जाति के प्रति रहता है। हिन्दुओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय (ठाकुर), वैश्य-बनिया और शूद्र चार मुख्य जातियाँ हैं। इनके अलावा एक पाँचवीं जाति और भी है जो अछूत कहलाती है। सबसे गया बीता काम करके ये अपनी जीविका चलाते हैं। प्रथम तीन जातियाँ उच्च जाति के नाम से पुकारी जाती हैं और बाक़ी "नीच क़ौम" मानी जाती हैं।

इनमें ब्राह्मण, कायस्थ और वैश्य साहित्य-सेवी जातियाँ हैं, क्योंकि इनकी आजीविका बिना कुछ पढ़े-लिखे चल नहीं सकती। ज़मींदार वर्ग तो प्राय: क्षत्रिय हैं। 'वीर भोग्या वसुन्धरा' की पुरानी संस्कृत लोकोक्ति के अनुसार प्राचीन काल में तलवार के बल पर ही भूमि का अधिकार भोगा जाता था। अत: शस्त्र-चिन्ता में पड़ कर शास्त्र-चिन्ता की ओर से क्षत्रिय-लोग किनारा-कशी कर गये। अब मुसलमानों में सैयद, शेख़ और मुग़ल ऊँची क़ौम के माने जाते हैं। इनमें से पहले दो वर्ग के लोग साहित्य-सेवी हैं। लेकिन साहित्य-सेवी लोगों की संख्या गाँवों में बहुत

थोड़ी है। अतः जिन गाँवों में केवल ऊँची ही जाति के लोग बसते हैं, उनको छोड़ कर गाँवों की अधिकांश जनता में साहित्य-प्रेम की परम्परा का अभाव ही है।

अब यदि हम ग्रामीण जनता का वर्गीकरण उपजीविका की दृष्टि से करें तो यह जनता—कृषोपजीवी और शिल्पजीवी—दो वर्गों में बँट जाती है। कृषोपजीवी समाज परिमाण में ८० फ़ी सदी और शिल्पजीवी समाज २० फ़ी सदी ही होगा। गाँवों में अब तक जिस गति से कृषि-कर्म और गृह-शिल्प प्रणाली चल रही हैं, उसके सीखने में तथा उसके द्वारा आजीविका चलाने में भी नवीन शिक्षाक्रम के अनुसार पढ़ने-लिखने या हिसाब सीखने की बहुत अधिक आवश्यकता नहीं है।

प्रायः ग्रामीण जनता का पञ्चमांश ज़मींदार वर्ग है, जो सामान्यतः साधन-सम्पन्न है। लेकिन विवाह की शान-शौकत तथा अदालत के खर्च का इन पर इतना अधिक बोझ रहता है कि ये लोग सदा से ही कर्ज़ में दबे हुए हैं। सौभाग्यवश कर्ज़ का बोझ न हो तो भी इन ख़र्चों के कारण बचत तो कदाचित् ही होगी। कुछ किसान, जिन्हें भूमि पर कानूनी अधिकार प्राप्त हैं, ज़रूर ख़ुशहाल हैं; लेकिन अधिकांश कृषोपजीवी समाज 'शिकमी' ही हैं—यानी भूमि भाड़े पर लेकर 'काश्त' करते हैं। शूद्र या पञ्चम वर्ग की इस वर्ग में अधिकता है। गाँव के शिल्पजीवी लोग भी अपनी आय की क़मी पूरी करने के अभिप्राय से थोड़ी बहुत भूमि जोत-बो लेते हैं। इन वर्गों में रैयत वर्ग ता

सबसे गया-बीता, निर्धन और साथ ही सबसे अधिक परिश्रम-ग्रस्त समुदाय है। संख्या में भी यह सबसे चढ़-बढ़ कर है। फ़सल समाप्त हुई और गरमी में जहाँ कृषि-कार्य बन्द हुआ कि इनकी बेकारी बढ़ जाती है। सारांश यह कि ये लोग कठिनाई से अपना पेट भर पाते हैं।

ग्रामीण जनता का २० फ़ी सदी अवशिष्ट वर्ग शिल्पजीवी, व्यापारी, समाज-सेवी, स्वतन्त्र आजीविकानुयायी, और भिक्षा पर जीवन यापन करने वालों का है। इन ग्रामों में शिल्पकारी द्वारा अपनी जीविका चलाने वाले कुम्हार, ठठेरे, लुहार, सुनार, दर्ज़ी, खटबुने, जुलाहे, पटवे, चुड़िहार, रंगरेज़ और मोची आदि हैं। लेकिन बाज़ारों में मशीन के बने सामानों की रेल-पेल होने से इनको अपना व्यवसाय जीवित रखना कठिन हो गया है। सुनार, लुहार और कहीं-कहीं दर्ज़ी को छोड़ कर अन्य सभी ग्राम्य-शिल्पियों की दैनिक आय इतनी कम होती है कि उन्हें अपना निर्वाह करने के लिए थोड़ी खेती भी करनी पड़ती है। इस-लिए कुछ अंश में उनके निर्वाह का भार भी भूमि पर ही पड़ता है।

ग्राम के व्यापारी-वर्ग में अनाज के अढ़तिये, तेली, हल-वाई, तमोली, कुंजड़े, कलवार, पंसारी, बजाज़ और ग़ल्ले के व्यापारी हैं। अपने ग्राहक वर्ग के अधिक सम्पन्न न होने के कारण ये भी अधिक सम्पन्न दशा में नहीं हैं।

सारांश यह है कि 'रैयत' वर्ग अत्यन्त दरिद्र है। वह अपनी सन्तान से छुटपन में ही मेहनत मज़दूरी कराने के लिए मजबूर

है और उनके पढ़ाने-लिखाने में नाम मात्र खर्च को भी वह सहन नही कर सकता। पाठ्य-पुस्तक आदि चीज़ों का खर्च तो उसकी शक्ति से परे की वात है।

(२) उसकी आवश्यकताएँ

'रैयत' वर्ग की, जो इस देश का सर्वस्व है, यह दुर्दशा है। उसका सारा जीवन नीरव और नीरस है। शताब्दियों के कष्टों ने उसे जर्जरित कर दिया है। वौहरे के तक़ाज़ों को, ज़मींदारों की वेगारों को, और कभी-कभी पुलिस की ज़्याद्-तियों को वह उसी बेवसी के साथ सहन कर लेता है जिस वेवसी के साथ वह इन्फ्लुऐञ्जा, प्लेग, या हैज़ा आदि को दैवी-कोप समझ कर सहता है। ज़मींदार को प्राय: कृषकों की इन कठिनाइयों का कोई आभास नहीं होता।

भारत में कृषक-वर्ग के अवकाश के समय के लिए मनोरंजक-साधन प्रस्तुत करना और उसके जीवन में सुखमय विकास की सामग्री प्रस्तुत करना एक विकट प्रश्न और आवश्यक प्रश्न है। गाँव वालों में संस्कृति की कमी हो, सो वात नहीं है; परन्तु उनके बीच में अब कोई आश्रयदायिनी और प्रोत्साहनवर्धक संस्था नहीं रही है। इङ्गलैंड के गाँवों में तो गिरजाघर का पादरी एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसके द्वारा गाँव भर में संस्कृति का प्रसार होता है; लेकिन भारत में ऐसा कोई साधन अब नहीं रहा है। ग्राम्य-जीवन की एक-रसता में परिवर्तन करने

के याद कोई अवसर हैं तो केवल विवाह, भोज, मेला या धार्मिक यात्रा आदि हैं। परन्तु प्राय: ये भी उसके ऊपर ऋण का भार लादने का कारण बनते हैं। ग्राउस साहब के विचार में प्रति वष हैज़े से मरने वाले १०० में ५० मनुष्य इन भोजों के कारण अपनी जान गँवाते हैं। वास्तव में इस कुप्रथा की जड़ उनके नित्यप्रति के जीवन का रूखापन है, जिससे ऊब कर वह किसी भी अवसर को ग़नीमत मान कर मनो-विनोद में लग जाते हैं और अपनी इस प्रवृत्ति को धार्मिक या सामाजिक बन्धनों की आड़ में छिपाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार ग्राम्यजन के जीवन-सुधार के लिए केवल आर्थिक शक्ति-वृद्धि की हो आवश्यकता नहीं है, बल्कि कुछ ऐसी भी सामग्री उपस्थित करने की आवश्यकता है जिससे उसके जीवन में समुज्ज्वलता भी आ जाय।

यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि ग्राम्य-जनता में विद्याभ्यास के प्रति श्रद्धा होती है; लेकिन उसकी आर्थिक अवस्था इतनी शोचनीय है कि बिना किसी अत्यन्त आवश्यक एवम् प्रभावो-त्पादक कारण के वह अपने बच्चे की शिक्षा के लिए भारी से भारी आत्म-त्याग नहीं कर सकती। विद्याभ्यास में लोगों की प्रवृत्ति कराने की बात परम्परा, ज्ञान-सम्पादन करने की उत्कट इच्छा, तथा आजीविका की आवश्यकता और स्वकार्य में दक्षता बढ़ाने के निमित्त शिक्षा—ये ही चार कारण हो सकते हैं, जिनसे प्रेरित होकर लोग शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा करते हैं।

विद्याभ्यास की परम्परागत प्रवृत्ति ब्राह्मण, कायस्थ, खत्री, और वैश्यों आदि साहित्य-सेवी जातियों में वर्त्तमान है। इनके अलावा ऊँची जाति के मुसलमानों में भी विद्या प्राप्त करने की रुचि है। इनके साथ केवल परम्परा का ही प्रश्न नहीं, बल्कि रोटी कमाने का भी प्रश्न रहता है। सरकारी नौकरी करके ही अपना निर्वाह करना इनकी आजीविका है। ये ही साहित्य-सेवी जातियाँ भारतीय जन-समुदाय में मध्य-वर्ग जातियाँ हैं। ये बसते भले ही ग्रामों में हों, परन्तु इनको आजीविका वश नगरों में ही रहना पड़ता है। राज की ओर से कोई प्रबन्ध न हो तो भी अपनी सन्तान को शिक्षित बनाना इनके जीवन का परम प्रयोजनीय और आवश्यक कार्य है।

सधन समाज में—जिन्हें जीविका के लिए नौकरी आदि करने की आवश्यकता नहीं—विद्याभ्यास की जो प्रवृत्ति पैदा होती है, उसका एक मात्र कारण ज्ञान सम्पादन करना हो सकता है। लेकिन यह बात तो प्रसिद्ध है कि अब तक कोई भी ऐसी प्रवृत्ति इनमें जागरित नहीं हुई। केवल ब्राह्मण या मौलवी समुदाय के कुछ लोग इस आस्तिक प्रवृत्ति से ज्ञान सम्पादन के लिए विद्याभ्यास की ओर झुकते हों तो झुकते हों। आजकल ज़मींदार लोग अपनी सन्तानों को इस अभिप्राय से शिक्षित बनाने का प्रयास करने लगे हैं कि अपने घराने की सम्मान-वृद्धि के लिए, डिप्टी कलक्टरी, पुलिस सुपरिटेन्डेन्टी आदि सरकारी पदों की प्राप्ति वे अपनी सन्तानों को बिना पढ़ाये

नहीं करा सकते। ज़मींदार लोग प्रायः गाँवों में रहते हैं। अतः इनमें शिक्षा का प्रचार होने से ग्राम्य शिक्षा-क्रम में सुधार होना आवश्यम्भावी है।

लेकिन रैयत अपनी सन्तान को किस उद्देश से विद्याभ्यास कराने के लिए बैठावे? यदि उसका पुत्र पढ़ना-लिखना सीख भी ले तो किस काम का? उसकी जान-पहचान का क्षेत्र संकुचित है। उसके सगे-सम्बन्धी उसी गाँव में या पास-पड़ोस में रहते हैं। वह पत्र-व्यवहार का शौक़ नहीं रखता। फिर गाँव में भी तो कोई ऐसी बात नहीं जिसमें उसे लिखने-पढ़ने की आवश्यकता पड़े? उसके लिए कोई ऐसा उपयोगी और सस्ता साहित्य भी उपलब्ध नहीं जिसे वह सरलतया प्राप्त कर सके। गाँवों में पुस्तकालय, कृषकावास अथवा रात्रि-पाठशालाएँ भी नहीं हैं। फिर पढ़े-लिखे लोगों से मिलने-भेंटने का अवसर या सुयोग ही उसे कहाँ और कब मिल पाता है? जो थोड़ा-बहुत पढ़ लेते हैं वे गाँव छोड़ कर शहरों में चले जाते हैं और फिर उनके लिए गाँव में जाने के बहुत कम अवसर रह जाते हैं।

देशी भाषाओं में निकलने वाले संवाद-पत्रों का पहले तो मूल्य ही उसके लिए इतना अधिक है कि वह उन्हें मोल नहीं ले सकता और कदाचित् ऐसा सम्भव हो तो इन पत्रों का भाषा-विन्यास और उनकी शैली ऐसी है कि उसकी समझ में आना दुर्लभ है। इन पत्रों में विनोदात्मक या मनोरंजनात्मक साहित्य, कथानक, सामयिक चुटकुले आदि का तो अभाव सदा रहता ही है। इसलिए

उसे कदाचित् ही कभी इनके पढ़ने का काम पड़ता होगा। गाँव में तो दुकानों पर उनके नाम की तख्ती या अन्य कोई विज्ञापन भी नहीं होता, जिसे कभी कोई निगाह उठा कर पढ़ ले। गाँव वाले रामायण और आल्हा के प्रेमी होते हैं ज़रूर, परन्तु इन्हें वे दूसरों से सुनकर ही अपना मनोविनोद पूरा कर लेते हैं। इन पुस्तकों को मोल लेकर रखने और पढ़ने के लिए उनके पास पैसे कहाँ होते हैं? रही लेन-देन की रसीद-पुर्ज़ों को पढ़ने की बात, सो पहले तो ये पुर्ज़े ऐसी लिपि में लिखे जाते हैं कि इनके पढ़ने वाले भी कठिनता से पढ़ सकते हैं और दूसरे अगर वह पढ़ भी लें तो उसका लाभ उठाने के लिए ज़मींदार या मुंशीजी से लड़ाई मोल लेने की ढिठाई करना उनकी शक्ति से परे की बात है।

तब यह प्रश्न भी उसके सामने आता है कि क्या यह शिक्षा-क्रम उसके व्यवसाय में उपादेय बन सकता है? विचार करने पर मालूम होता है कि प्रस्तुत स्वरूप में कृषिवर्ग को किसी प्रकार की शिक्षा अपेक्षित नहीं, क्योंकि कृषि-कार्य के तरीक़ों में उन्नति की बहुत कम गुञ्जाइश है। उनका कहना है कि आज कल की शिक्षा कृषकों की सन्तान में खेत में खड़े होकर काम करने में अरुचि पैदा कर देती है। कुछ कृषक तो यह भी कहते हैं कि यह शिक्षा उन्हें निर्धन बनाने का कारण बनती है। एक नाई ने मुझ से कहा कि उसने अपने लड़के को नाहक़ अङ्गरेज़ी पढ़ा कर अपना सत्यानाश किया। उसने कई बार ९वीं कक्षा में फ़ेल

होकर अन्त में २० रुपये की नौकरी कर ली और शहर में रहने लगा है। अगर वह अपना काम करता तो उसे इससे कहीं अधिक आय होती और इतना खर्च भी न पड़ता। इसी प्रकार मुझसे एक देहाती स्कूल के एक मुदर्रिस ने कहा कि उसने जितना रुपया अपनी पढ़ाई में खर्च किया था यदि उतने रुपये इकट्ठे करके वह इक्का मोल लेकर भाड़े पर हाँकता तो आर्थिक दृष्टि से वह इस मुदर्रिसी की अपेक्षा कहीं अच्छा रहता। अतः यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि ग्राम्य जन के सामने ऐसी कोई आवश्यकता नहीं जिसके कारण वह अपना धन और समय लगा कर शिक्षा से किसी भारी लाभ की आशा कर सके।

कुछ लोगों का विचार है कि शासन-सुधार के युग का प्रारम्भ होने पर कृषकों को वोट देने के जो बृहत अधिकार मिले हैं उससे उनमें विद्याभ्यास की प्रवृत्ति बढ़ेगी। पर भारतीय जनता चुनाव के परचों को पढ़ कर किसे वोट देना चाहिए, यह निश्चय नहीं कर पाती। दूसरे चुनाव के परचे गाँवों तक शायद ही पहुँच पाते हैं। ऐसी परिस्थिति में वोट देने के अधिकार की वृद्धि के कारण विद्याभ्यास के प्रचार में अधिक सहायता नहीं मिल सकती।

यह तो ग्राम्य-जन की दृष्टि से विचार करने पर वस्तुस्थिति का दर्शन हुआ, जिससे प्रकट है कि यदि उसकी इच्छा पर छोड़ दिया जाय, तो उसके पास कोई ऐसा कारण नहीं है जिससे वह अपने बच्चे की पढ़ाई के लिए समय और धन का मोह छोड़ दे।

लेकिन यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वह विद्याभ्यास के विपक्ष में भी कदापि नहीं है। जब तक उसका बालक चार पैसे कमाने लायक नहीं बनता तब तक, यदि स्कूल पास में हैं और पढ़ाई के ख़र्च में उसकी गाँठ के पैसे अधिक ख़र्च नहीं होते, तो वह अपने बच्चे को प्रसन्नता से स्कूल में बैठा सकता है। लेकिन जहाँ वह बच्चा काम में हाथ बँटाने लायक़ हुआ कि उसे स्कूल से बिदाई लेनी ही पड़ेगी।

दूसरा अध्याय

शिक्षा का प्राचीन क्रम

भारत के जो प्रदेश अब आगरे व अवध के संयुक्तप्रान्त के नाम से पुकारे जाते हैं वे इतिहास में पहले हिन्दुस्तान के नाम से प्रसिद्ध थे। शताब्दियों तक ये प्रान्त धन और सुख की गोद में फूले-फले और इसी सुख समृद्धि के लोभ से प्रेरित होकर पश्चिमोत्तर के आक्रमणकारियों द्वारा ये प्रान्त इन चीजों से वंचित भी किये गये। १६वीं शताब्दी में मुग़लों ने यहाँ अपनी सत्ता अच्छी तरह जमा ली थी। लेकिन उनका पतन होने के साथ ही ये प्रान्त शक्तिलोलुप प्रतिस्पर्धियों की मुठभेड़ का अखाड़े बन गये। सन् १७०७ में औरङ्गजेब की मृत्यु के बाद से लगा कर, बङ्गाल के अहाते में मिलाने के समय तक, ये प्रान्त अशान्ति और विलब के घर बने रहे। ऐसे विपज्जनक समय में, जीवन-रक्षा में व्यग्र रहने के कारण, इन प्रान्तों के निवासी शिक्षा-दीक्षा की ओर आवश्यक ध्यान न दे पाये। जब अङ्गरेज़ लोग इस प्रान्त में पहुँचे तो उन्होंने देखा कि इन प्रान्तों के निवासी शिक्षा विहीन हैं। परन्तु उस समय भी, प्राचीन

परिपाटी की स्मारक, एक प्रकार की शिक्षा-प्रदान की परम्परा यहाँ फिर भी मौजूद थी। अतः अङ्गरेजी शिक्षा के प्रादुर्भाव काल से पहले की इसी शिक्षा-प्रदान शैली का वर्णन हम करेंगे।

डाक्टर एफ़० डब्लू० टॉमस ने इन प्राचीन शैली की पाठशालाओं को हिन्दू प्रारम्भिक और हिन्दू शास्त्रीय पाठशालाएँ, मुस्लिम प्रारम्भिक स्कूल तथा मुस्लिम मकतब इन चार भागों में विभक्त किया है। हिन्दुओं में छोटे-बड़े दोनों प्रकार के विद्यालय पाठशाला के नाम से पुकारे जाते थे, वैसे ही मुसलमान अपने छोटे-बड़े विद्यालयों को मकतब के नाम से पुकारते थे। लेकिन वस्तुतः ये दोनों नाम केवल ऊँचे दरजे की पढ़ाई की संस्थाओं को दिये गये थे। रोड साहब ने अपनी प्रथम रिपोर्ट में प्राचीन पद्धति पर शिक्षा प्रदान करने वाली संस्थाओं को १० विभागों में विभक्त किया है। उन्होंने ये विभाग उनमें सिखायी जाने वाली भाषाओं की विभिन्नता के अनुसार निर्धारित किये थे। लेकिन अपने उद्देशानुसार हम यहाँ पर केवल दो, यानी प्रारम्भिक शिक्षा-प्रदान करने वाले तथा उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालय के विभागों को मान लेते हैं और उनके साथ हिन्दू और मुस्लिम इस प्रकार दो उपविभाग मानने से हमारा काम चल जायगा।

सब से पहली बात जो हम यहाँ बतला देना चाहते हैं वह यह है कि आज दिन जिस अर्थ में 'स्कूल' शब्द व्यवहार में आता है एक शताब्दी पहले उसके यह अर्थ न थे। उन दिनों

एक शिक्षक के निरीक्षण में किसी एक स्थान पर एकत्रित होकर कम से कम दो चार या अधिक से अधिक पन्द्रह बीस लड़के जहाँ पढ़ते थे, उस स्थान को पाठशाला या स्कूल कहते थे। ऐसे स्कूलों में न तो कोई कक्षाएँ या श्रेणियाँ थीं और न चटाई के सिवाय किसी प्रकार का सामान। इन स्कूलों में पढ़नेवाले लड़कों के पास लकड़ी के तख़्ते की बनी हुई 'पट्टी' या 'तख़्ती' होती थी। इसको हरी घास या पत्तों से मलकर हरा रंग दिया जाता था और गोटे से रगड़ कर चिकना किया जाता था। पास ही के खेतों की किसी झाड़ी में से तोड़कर सरकंडे की क़लम बनायी जाती थी और मट्टी की छोटी सी कुलिया में खड़िया मट्टी घोलकर दवात तैयार हो जाती थी। पुस्तकें पढ़ने का सुखोपभोग उन्हें कहाँ नसीब था!

१८७१ ई० में लण्डन में एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी हुई थी। इसमें एकत्रित शिक्षा सम्बन्धी पुस्तकें, अन्य सामग्री तथा उपकरणों के विषय में डाक्टर स्मिथ ने एक रिपोर्ट पेश की था। उसमें भारतवर्ष की एक ग्रामीण चटसाल (पाठशाला) का वर्णन इस भाँति किया गया है। "भिन्न भिन्न देशों में प्रचलित शिक्षा-पद्धतियों पर प्रकाश डालने के लिए इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी का आयोजन किया गया है। इसके युरोपियन-शिक्षा विभाग में जहाँ लम्बे-चौड़े आडम्बरयुक्त बहुमूल्य साज सामान का प्रदर्शन है, वहाँ दक्खिनी कैन्सिंगटन के अजायबघर में भारतवर्ष की प्राचीन पद्धति के अनुसार शिक्षा प्रदान करने वाली पाठशाला के

माडल में हमें क्या दिखायी देता है? ताड़ के पत्तों से स्वयम् पढ़नेवाले बालकों द्वारा बनायी हुई हलकी सी चटाई, जिसे उठाने और रखने में कोई कठिनाई नहीं होती और जिसका मूल्य भी एक आना मात्र है! इस चटाई के अनुरूप ही उनके पढ़ने का स्थान है। इसे बड़े आदर सूचक शब्दों में हम 'विद्यालय का भवन' कह सकते हैं। यह भी इसी सादगी का नमूना था। कहीं-कहीं अध्यापक का कच्चा झोंपड़ा ही स्कूल के काम आता था! कहीं गाँव के मुखिया के घर के दालान में स्कूल लगता था और कहीं किसी महाजन के द्वार पर खुले चबूतरे पर ही पठन-पाठन होता था! अगर कहीं इस काम के लिए मन्दिर, मसजिद या थाना आदि सार्वजनिक स्थान मिल गया, तब तो विद्यार्थियों के भाग्य ही उदय हुए जानना चाहिए! अगर इन सब में से किसी बात की सुविधा न हुई तो फिर किसी सायेदार पेड़ के नीचे ही चटसाल लगती थी!'

सन १८६८ ई० में एस० लाँग साहब ने ऐडम साहब की रिपोर्ट का सम्पादन किया। 'मुसलमानी शासन के आरम्भ होने के पूर्व बङ्गाल में देशी शिक्षा' इस रिपोर्ट का विषय था। इसके अनुसार गाँवों में हिन्दुओं का प्राचीन ग्राम-संघ (Old Municipal System) प्रचलित था। इसके अनुसार हर गाँव में एक मुखिया, पुरोहित, बढ़ई, लोहार, कुम्हार, नाई, धोबी, भाट, वैद्य और अध्यापक, जिसे 'गुरु महाशय' कहते थे, रहता था। यह ग्राम्य-सङ्गठन अनेक राजनीतिक आन्दोलनों और

विप्लवों के वेग को सहन करता हुआ सैकड़ों बरसों से ज्यों का त्यों बना रहा। मैटकाफ़ साहब के शब्दों में "यद्यपि इस देश में हिन्दू, पठान, मुग़ल, मराठे, सिक्ख और अङ्गरेज़ बारी-बारी से अधिपति बनते गये परन्तु यहाँ के ग्राम्य समुदाय का स्वरूप पूर्ववत् ही बना रहा"।

फिर भी यह कहना सत्य ही है कि मुसलमान शासकों की उदासीनता का प्रभाव इस अपरिवर्तनशील ग्राम्य जनता की संस्कृति के प्रादुर्भाव पर बिना पड़े न रह सका। इस दीर्घकालीन उदासीनता के बाद, बड़ा विप्लवमय समय उपस्थित हुआ। इसके कारण प्रजा के जान माल तक पर बन आयी। ऐसी कठिन परिस्थिति में जब ग्राम समुदाय को लाचार हो अपना ध्यान केवल उन्हीं बातों की रक्षा करने में परिमित करना पड़ा, जो तत्कालीन समाज का स्वरूप स्थिर रखने के लिए परमावश्यक थीं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे महान संकट के समय में शिक्षा की अवहेलना हुई। डाक्टर लीवर ने पञ्जाब की देशी-शिक्षा-पद्धति का वर्णन करते हुए अपने लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कम से कम पञ्जाब में तो ये प्राचीन शैली की पाठशालाएं वस्तुत: अपने प्राचीन स्वरूप की कङ्काल मात्र रह गयीं थीं।

मुग़ल साम्राज्य के अध:पतन के बाद गाँव के कार्य-कर्त्ताओं में 'गुरु महाशय' की तो सब से अधिक गयी बीती अवस्था थी। इस समय के अध्यापक या तो वयोवृद्ध कार्य-क्षमताहीन

कायस्थ होते थे या कोई बेकारी के मारे घर बैठे हुए ब्राह्मण, जिनके लिए अपनी ऊँची जाति के गर्व के कारण और कोइ काम-धन्धा करना असम्भव होता था। इन अध्यापकों का वेतन भी बहुत कम होता था। जब गाँववालों के यहाँ फ़सल कट जाने पर नाज खलिहान में आ जाता था तो प्रचलित प्रथा के अनुसार इन अध्यापक जी को भी हर घर से एक अढ़ैया (२॥ सेर) से लेकर दो पंसेरी (१० सेर) तक नाज मिल जाता था। हिन्दुओं के लड़के हर एकादशी को एक धेले से लेकर दो पैसे तक अध्यापक की भेंट करते थे। इसके अतिरिक्त हर तिथि-त्यौहार के अवसर पर मिठाई, फल, कपड़े-लत्ते, रुपये-पैसे आदि की भेंट-पूजा भी बालकों से मिल जाती थी। पाठशाला में प्रवेश, या विवाह आदि संस्कार के अवसर पर भी बालकों की ओर से अध्यापक को भेंट, विदायी या अन्य पुरस्कार मिलते थे। अगर गुरूजी ब्राह्मण हुए तो तिथि-त्यौहार पर उनको विद्यार्थियों के यहाँ से 'सीधा' भी मिल जाता था।

कुछ स्कूलों में यह भेंट नियमिति रूप से भी मिलती थी। प्रत्येक 'पट्टी' (पाठ) समाप्त करने और उसे अपने माता-पिता को कंठस्थ कर सुना देने पर अध्यापक को दो आना प्रति पट्टी (पाठ) के हिसाब से पारश्रमिक मिलता था। इतनी भेंट-पूजा और पारश्रमिक की आयोजना होने पर भी हमारे प्रान्त में सन् १८५० ई० में अध्यापक की आय का मासिक औसत ४ रुपये मात्र था।

गाँवों में किसी-किसी के यहाँ अपने घर पर पढ़ाने के लिए निज के अध्यापक भी रहते थे। लोग अपने बालकों को पढ़ाने के लिए अध्यापक को नौकर रख लेते थे। ऐसा करना उनके सम्मान और उच्च पद का बोधक था। आज कल भी हमारे प्रान्त में 'घर पर पढ़ाने के लिए अध्यापक' रखने की जो कुप्रथा प्रचलित है उसका कारण केवल आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का दोष ही नहीं है वरन् इस प्राचीन परम्परा की प्रेरणा भी है।

मुसलमान अमीरों के यहाँ घर पर पढ़ानेवाले अध्यापक प्राय: इसलिए रहते थे कि वे उनके यहाँ भोजन भी कर सकते थे। ऐसे अध्यापक अपने गाँववाले सहोद्योगी की अपेक्षा कहीं अच्छी अवस्था में रहते थे। वेतन और भोजन के अतिरिक्त उनको जाड़ों में गरम कपड़े भी मिल जाते थे और वे अपने मालिक के पास-पड़ोस में रहने वाले लड़कों को पढ़ाकर उनसे नक़द रुपये भी प्राप्त करते थे। कुछ अध्यापक ऐसे भी होते थे जो बिना शुल्क लिये अपने घर पर ही बालकों को पढ़ाया करते थे; परन्तु प्रारम्भिक शिक्षा की चटसालों और विद्यालयों में ऐसे अध्यापकों की संख्या प्राय: नाम मात्र ही थी।

इस प्रकार जिस पेशे में (उस जमाने में भी) घसियारे से भी कम वेतन मिलता था, भला यह कब सम्भव हो सकता था कि उसमें जाने के लिए सुशिक्षित लोग आकर्षित हों! फिर गाँव वाले तो शिक्षा के नाम से कोरे ही, थे! इसलिए जो भी चार अक्षर पढ़ा हुआ उन पर प्रभाव जमाना चाहता वह सहज

ही उस के रुआब में आ जाते थे। इस पर भी गाँव में उन लोगों को छोड़कर जो स्वयम् पंडित थे साधारण लोगों में न तो स्पृहा थी और न वे ऐसे अपूर्व विद्यानुरागी ही थे कि अपने बालकों को पंडित बनाना उनका धेय हो। जो लोग अपने बालकों को पंडित या मौलवी बनाना चाहते थे वे उन्हें किसी संस्कृत पाठशाला या फ़ारसी के मकतब में पढ़ने के लिए भेज देते थे अथवा घर पर ही अध्यापक रख कर उनके पढ़ाने की व्यवस्था करते थे। साधारणतः मध्यम श्रेणी के ऐसे ग्राम-निवासी जिनके पास थोड़ा बहुत धन होता था अपने बालकों को अक्षर-ज्ञान कराने के लिए पाठशाला में पढ़ाते थे।

इन पाठशालाओं में यह साधारण शिक्षा भी बिना किसी उपकरण के दी जाती थी। और यह कुछ कम कौतूहल की बात नहीं है कि ऐसी अवस्था में भी स्वयम् कुछ अधिक शिक्षित न होते हुए भी ये अध्यापक अपना काम ख़ूब चला लेते थे।

सन् १८५२ ई० में एच० एस० रीड साहब ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की। इसमें 'आगरे में देशी शिक्षा और वर्नाक्युलर स्कूलों' के सम्बन्ध में लिखा है कि 'हिन्दी के अध्यापक पढ़ने में प्रायः असमर्थ होते थे। वे किसी किताब का उपयोग न करते थे, परन्तु गिन्ती और पहाड़े ज़बानी रटा दिया करते थे। बहुत से ऐसे शिक्षक जो कुछ टूटा-फूटा पढ़ लेते थे एक-एक अक्षर को जोड़ कर पढ़ पाते थे। कोई विरला कायस्थ शिक्षक नागरी पढ़ पाता था और बहुत से ब्राह्मण अध्यापकों की भी यही दशा थी।

जिस किसी ने इन ग्रामीण पाठशालाओं के विद्यार्थियों की परीक्षा ली होगी उसे यह देखकर अवश्य आश्चर्य हुआ होगा कि इनमें पढ़ने वाले बालकों को उनके शिक्षक कितना कम पढ़ाते थे। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात भी याद रखने योग्य है कि शिक्षकों को जैसा वेतन दिया जाता था उसके विचार से इससे अधिक अच्छी शिक्षा प्राप्त होना असम्भव था। किसी संस्था की सफलता या विफलता के सम्बन्ध में निर्णय करते समय उसके शिक्षा-विस्तार पर ही अधिक ध्यान न देकर यह भी देखना आवश्यक है कि उसका नैतिक प्रभाव और अनुशासन कितना लाभदायक था। इस अन्तिम बात का विचार हम बाद में करेंगे।

अब हम गाँवों की इन प्रारम्भिक पाठशालाओं के पाठ्यक्रम पर विचार करेंगे। बहुत सी ऐसी पाठशालाओं में हिन्दी, महाजनी या कैथी की वर्णमाला सिखायी जाती थी। महाजनी का व्यवहार साहूकार महाजनों में पहले की भाँति अब भी होता है और इसी कारण इस लिपि का नाम भी महाजनी पड़ गया है। कैथी कायस्थों के नाम से प्रचलित हुई। कायस्थ हमेशा से लिखने-पढ़ने के काम करते रहे हैं। अतएव इन्हें सरलता से शीघ्र लिखी जाने वाली कैथी लिपि का प्रयोग करना पड़ा। इन स्कूलों में लिखने की भाँति पढ़ने में भी बड़ी विभिन्नता थी। नागरी या हिन्दी स्कूलों में साधारण विषयों की शिक्षा होती थी, किन्तु महाजनी और कैथी स्कूलों में व्यापार और खेती-बारी के

हिसाब-किताब की शिक्षा विशेष प्रकार से दी जाती थी। इन स्कूलों में पढ़ने-लिखने के साथ मौखिक गणित और साधारण हिसाब भी सिखाया जाता था। इन सब विषयों की पढ़ाई कुछ तो शिक्षक की योग्यता पर, कुछ विद्यार्थियों के मातापिताओं के झुकाव पर और कुछ उस काल पर निर्भर करती थी जिस समय के लिए विद्यार्थी पाठशाला में रह सकते थे।

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि गाँव के विद्यार्थी का पाठशाला में पढ़ने के लिए रहना सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर था। इस प्रकार इन पाठशालाओं को अपने चारों ओर की परिस्थिति के अनुसार अपना कार्यक्रम रखना पड़ता था और जिस प्रकार पानी की धार अपने उद्गमस्थान की ऊँचाई से अधिक ऊँची नहीं चढ़ सकती, उसी प्रकार ये पाठशालाएँ उतनी ही शिक्षा देती थीं जितनी उस जाति के लोगों की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त होती थी। यह बात हम पहले ही बतला चुके हैं कि जो लोग अपने बालकों को उच्च शिक्षा देना चाहते थे वे उन्हें बड़ी पाठशालाओं में भेजते थे और इसलिए चटसालों में केवल उन्हीं लोगों के बालक पढ़ते थे जिनको थोड़ी सी कामचलाऊ शिक्षा दिलानी होती थी। इससे प्रकट है कि चटसालों में लड़कों को उतनी ही शिक्षा दी जाती थी जिससे उन्हें साधारण बातों के समझने और चिट्ठी इत्यादि लिखने-पढ़ने का ज्ञान हो जाता था। इन चटसालों में उनको इतना हिसाब भी सिखा दिया जाता था जो गाँव की दूरस्थ और एकान्तवासी

प्रजा की साधारण आवश्यकताओं के लिए काफ़ी होता था। परन्तु जब महाजनों या कायस्थों के लड़कों को किसी विषय का विशेष ज्ञान प्राप्त करना होता था तो इन स्कूलों में ही जितनी शिक्षा हो सकती थी उन्हें दी जाती थी और इसके अलावा किसी दुकान या कारखाने में कुछ समय तक काम सीख कर इनका व्यवहारिक ज्ञान परिपूर्ण करा दिया जाता था।

बालकों को पढ़ने से पहले लिखना सिखाया जाता था। सब से पहले उन्हें स्वरों का ज्ञान कराने के लिए लिखने के साथ प्रत्येक स्वर का उच्चारण कराया जाता था। इसी प्रकार व्यञ्जन सिखाये जाते थे और उनके उच्चारण की विधि के अनुसार उनका वर्गीकरण करके पढ़ाया जाता था। जैसे—प फ ब भ म—इति ओष्ठम्। परन्तु हिन्दी की चटसालों में इन्हें बारहखड़ी की कविता याद कराके पढ़ाया जाता था। ये बारहखड़ी कई भाँति की होती थीं। किसी-किसी में महापुरुषों की कहानियाँ होती थीं तो किसी में नीति की बातें सिखायी जाती थीं। सुदामा बारहखड़ी में सुदामा की कथा का वर्णन है और इस कथा का हर दोहा वर्णमाला के अक्षरों से क्रमानुसार प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार नीति के दोहों की बारहखड़ी के आरम्भ में वर्णमाला के अक्षर होते थे जैसे—

'दद्दा दोष न दीजे काहू, दोष कर्म अपने हो'।
'जज्जा जपै सोई गति पावै'।
'सस्सा—साधु संग पावै जन कोई'।

हिन्दुओं में इस प्रकार अनेकों बारहखड़ियाँ थीं और बालकों को इन्हें रट कर याद करने में खूब आनन्द आता था।

जब बालक वर्णमाला सीख लेते थे तब उनकी परीक्षा ली जाती थी। शिक्षक उनको पट्टी पर कोई अक्षर लिख कर बालक से उसकी पहचान कराता था या किसी काग़ज़ के टुकड़े में इतना बड़ा छेद करके, जिसमें होकर केवल एक ही अक्षर दिखायी दे, किताब के ऊपर-नीचे घुमा कर बालक से छेद के भीतर से दिखायी देने वाले अक्षर को पहचान कराता था। कभी-कभी शिक्षक परीक्षा लेने में बड़ी कड़ाई दर्शाते थे। उनको समझ में कदाचित् यह बात न आती थी कि एक ही अक्षर को बार-बार देखते रहने से वह बालकों के ध्यान में जम जाता था। परीक्षा में जो बालक अपने शिक्षक को सन्तुष्ट कर देता था उसे फिर बारहखड़ी सिखायी जाती थी।

यह बारहखड़ी शब्द द्वादशाक्षरी संस्कृत शब्द का ठेठ हिन्दी है। अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः—देवनागरी वर्णमाला में यह बारह स्वर होते हैं और किसी एक व्यञ्जन के साथ इनका योग हो जाने का नाम बारहखड़ी है। जैसे—क का कि की कु कू के कै को कौ कं कः।

अन्य ३२ व्यञ्जनों के साथ इसी प्रकार की बारहखड़ी सीख लेने पर हिन्दी भाषा में किसी शब्द का उच्चारण सुनकर उसको लिख लेना बालक के लिए बहुत सरल हो जाता है। यह बात नागरी अक्षरों की स्वरध्वनि की शुद्धता के कारण

इतनी सुलभ है। इस प्रकार यद्यपि बारहखड़ी सीखने में एक महीने का समय लग जाता था; परन्तु इसका प्रभाव बड़ा लाभ-प्रद होता था। क्योंकि अब बालक विना किसी विशेष कठिनाई के साधारण चीज़ों के नाम लिख पढ़ सकता था।

इसके पश्चात् संयुक्ताक्षर सीखने की बारी आती थी। परन्तु इनके सिखाने की कोई विशेष प्रामाणिक विधि नहीं थी। संयुक्त अक्षर सिखाने में शिक्षक प्रायः हर बालक की पट्टी पर 'सिद्धों की पट्टी' लिख दिया करता था और बालकों को उसकी नक़ल करनी पड़ती थी।

इस स्थान पर यह बतला देना अधिक उचित होगा कि इस पट्टी का नाम संस्कृत भाषा के 'कलाप व्याकरण' के प्रारम्भिक शव्द के पहले अक्षर से लिया गया था। इस व्याकरण में हर प्रकार के संयुक्त अक्षरों से बने हुए शव्द मिलते हैं। इस पट्टी के पढ़ाने का एक कारण यह भी था कि इस समय तक छोटे से छोटे गांव में भी संस्कृत व्याकरण पढ़ाने की परम्परा जारी थी। क्योंकि अब भी लोगों का यह विचार था कि संस्कृत के व्याकरण के ज्ञान के बिना कोई शिक्षा हो ही नहीं सकती। इस 'सिद्धों की पट्टी' में ४-५ पृष्ठ थे, और इसके लिखने का अभ्यास कर लेने से बालक को संयुक्ताक्षरों के कठिन शव्द लिखने का अच्छा ज्ञान हो जाता था। यद्यपि यह बात सत्य है कि इस अवस्था में उनको इन शव्दों के अर्थ का कुछ भी ज्ञान न होता था। इसी समय बालकों से देवताओं, मनुष्यों, नगरों,

नदियों, और पहाड़ों इत्यादि के नाम लिखवाने का अभ्यास कराया जाता था। हर लड़का अपना, अपने पिता का तथा अपने इष्ट-मित्रों और कुटुम्बियों का नाम पट्टी पर नित्य लिखता था।

इसी के साथ-साथ दिन का नाम, महीने का नाम, ऋतु का नाम तथा अपने गाँव या नगर का नाम भी उसे नित्य लिखना पड़ता था। इस प्रकार के अभ्यास में बालकों का ख़ूब चित्त लगता था। यह अभ्यास समाप्त हो जाने पर उसे विभिन्न लोगों के नाम चिट्ठी लिखने का अभ्यास कराया जाता था।

इतनी शिक्षा समाप्त कर लेने पर बहुधा अधिकांश लड़के पठशाला छोड़ देते थे। परन्तु जो लड़के इसके बाद भी शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे वे प्राय: अपने घर से रामायण की पोथी लाकर पढ़ने लगते थे। छपी हुई पुस्तकों के प्रचार होने के पूर्व ऐसी पोथियाँ बहुत कम पढ़ने को मिलती थीं; क्योंकि भारतवर्ष में १८ वीं शताब्दी के अन्त और १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में छापेख़ाने का प्रादुर्भाव हो पाया था।

साधारण पाठशालाओं की शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी था कि उनमें पढ़ने वाले बालकों को अङ्कगणित का साधारण ज्ञान प्राप्त हो जाय। इस विचार से अङ्कगणित की शिक्षा यथा-सम्भव व्यावहारिक रूप में दी जाती थी। आरम्भ में मौखिक अङ्कगणित पर अधिक ज़ोर दिया जाता था और सब गुर ज़बानी याद कराये जाते थे। इन पाठशालाओं में हिसाब

सिखाने की भी वही शिक्षण-विधि प्रचलित थी जिसका भाषा पढ़ाने में उपयोग किया जाता था। लड़कों को पहले पहल गिनती सिखायी जाती थी और सैकड़े के दस-दस भाग करके एक दफे में एक भाग सिखाया जाता था। पाठशाला की छुट्टी हो जाने पर यह गिनती सब लड़के एक लड़के के पीछे ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला कर बोलते थे और रट कर याद कर लेते थे। परन्तु जब गिनती लिखाने का श्रीगणेश होता था उस समय गुरू जी बालक का हाथ अपने हाथ में पकड़ कर पट्टी पर एक अङ्क के नीचे दूसरा अङ्क इस तरह लिखाते थे जैसे चीनी वर्णमाला लिखी जाती है।

बालक अंक को लिखने के साथ बोलता भी जाता था। इसके बाद उससे एका की पट्टी लिखायी जाती थी। सारी पट्टी भर लिखने पर या जब तक वह पक्का न हो लेता था तब तक उसे बराबर इसे लिखना पड़ता था। फिर उसकी परीक्षा होती थी और उससे कोई भी अङ्क जैसे—९, ६, ८, ३ इत्यादि तुरन्त लिखने के लिए कहा जाता था। इसके बाद ग्यारह, इक्कीसा, इकतीसा इत्याद की पट्टी लिखा कर १०० तक गिनती पूरी की जाती थी। किसी-किसी पाठशाला में तो गिनती पढ़ते समय उलटी गिनती भी बुलवायी जाती थी। मैं स्वयम् सारी उलटी गिनती १०० से १ तक गिन लेता था और वह भी एक मिनिट में। मैंने सम-विषम, अंक एक साथ यंत्र के समान बोलने का भी अभ्यास कर लिया था।

गिनती आ जाने के बाद पहाड़े सिखाये जाते थे। पाठशाला में बैठने के पहले ही दिन से छुट्टी होने के साथ ही एक कतार में खड़े हो कर सब के साथ हर एक बालक को एक बोली पर ये पहाड़े दुहराने पड़ते थे। इस प्रकार हिसाब सीखना प्रारम्भ करने से बहुत पहले ही ये पहाड़े बालकों के मस्तिष्क में जमा दिये जाते थे। बहुतेरी पाठशालाओं में एक से ४० तक के पहाड़े याद कराये जाते थे; परन्तु कुछ पाठशालाएं तो ऐसी थीं जहाँ सब पहाड़े १०० तक याद कराये जाते थे। किसी-किसी पाठशाला में २०-२५ तक के पहाड़े सिखा कर ही पहाड़ों की पट्टी समाप्त कर दी जाती थी। पहाड़ा याद हो जाने पर कड़ी परीक्षा ली जाती थी और हर दस पहाड़े के बाद दूसरी दहाई का पहाड़ा याद करने को दिया जाता था। पहाड़ों की परीक्षा ज़बानी होती थी। गुरु जी पूँछते थे १३ पंचे ? या कै सत्ते ९१ ? इत्यादि।

मेरे गुरु ज़ी का तो कहना था कि पहाड़े इतने पक्के याद होने चाहिए कि सोते में भी यदि पहाड़ा पूछा जाय तो उत्तर ठीक ही मिले और तुरन्त मिले। इस प्रकार पूरे अंक के पहाड़े याद कर लेने पर भिन्न के पहाड़े भी सिखाये जाते थे। पौआ, पौना, सवैया, ड्योढ़ा, ढैया या अढ़ैया, हूँठा (साढ़े तीन) और ढ्योंचा (साढ़े चार) आदि के पहाड़े इनमें चुन लिये गये थे।

इन कठिन पहाड़ों को ज़बानी याद करने में बालकों के मस्तिष्क पर कितना ज़ोर पड़ता होगा इसका अनुमान करना

कठिन नहीं है। उस ज़माने की प्रथा के अनुसार इनका याद ही नहीं बल्कि ख़ूब याद करना पड़ता था क्योंकि शिक्षक पहाड़े की परीक्षा बड़ी कड़ाई से लेते थे। परन्तु वास्तव में बालकों पर पहाड़े याद करने का भार अधिक न पड़ता था, क्योंकि उन्हें रोज़ गा-गा कर बोलने से वे बालकों को कंठस्थ हो जाते थे या उनके ज़हन में उतर जाते थे। पहाड़े बोलने का ढङ्ग बड़ा अद्भुत होता था और इन्हें बार-बार गा-गा कर बोलते-बोलते ही ये बालकों को याद हो जाते थे।

पौआ, पौना आदि के शुरू करने से पहले बालकों को सादे जोड़, बाकी, गुणा, भाग सिखा दिये जाते थे। गुरू जी बालकों की पट्टी पर कई हिसाब के सवाल लिख देते थे; बालक उन्हें पूरा हल कर गुरू जी को दिखाते थे। ठीक होने पर गुरू जी उन्हें और सवाल लिख देते थे तथा अशुद्ध होने पर सज़ा देते थे।

इसके बाद रुपये, आने, पाई, मन, सेर, छटाँक, और पैमायशी नापों के जोड़ बाकी, गुणा, भाग सिखाये जाते थे। और उनके अंक भी लिख कर बताये जाते थे।

इसी समय गुर भी समझाये जाते थे। ये छोटे गुर याद कर लेने पर सवाल हल करने में बड़े सहायक होते थे। दाम जोड़ने के, नाप जानने के और वट्टा, सूदि आदि निकालने के अलग-अलग गुर होते थे। यहाँ हम एक छटाँक का दाम निकालने का अत्यन्त सरल नियम उदाहरण सहित उद्धृत करते हैं:—

गुर—जितने रुपये सेर की वस्तु हो उतने ही आने एक छटाँक के दाम जानो।

यथा किसी चीज़ का भाव १० रु० सेर है तो उसी एक छटाँक चीज़ का दाम १० आना होगा।

बहुत सी ग्राम्य-पाठशालाओं में ज़मीन की पैमाइश सम्बन्धी सारी बातें भी सिखायी जाती थीं। भिन्न-भिन्न आकार वाले खेतों को नापना और उनका क्षेत्रफल निकालने के नियम भी सिखाये जाते थे। पटवारी और शायद ज़मींदारों के लड़के गाँव का हिसाब-किताब और पटवारी के काग़ज़ों का भी अध्ययन करते थे। परन्तु साधारणतः यह बातें पाठशालाओं में नहीं सिखायी जाती थीं, क्योंकि पटवारी लोग इन्हें अपने पेशे का रहस्य समझ कर अपने घर अपने लड़कों को ही सिखाते थे। जिन पाठशालाओं में वैश्यों के लड़के अधिक पढ़ते थे उनमें देसी व्यापार-गणित (व्यवहार-गणित, सूद-दर सूद, हानि-लाभ आदि) की सब बातें सिखायी जाती थीं। हुण्डी लिखना तथा व्यापारी पत्र-व्यवहार करना भी उन्हें यहीं सिखा दिया जाता था।

उर्दू और फ़ारसी के स्कूल—गाँवों में जितनी अधिक संख्या में हिन्दी के स्कूल थे उतनी अधिक संख्या में उर्दू-फ़ारसी के स्कूल न थे। लेकिन जैसे आज कल अङ्गरेज़ी की इज़्ज़त जीविका की दृष्टि से देश में है वैसे ही फ़ारसी पर पहले लोगों की बड़ी आस्था थी क्योंकि मुग़ल बादशाहों, उनके नवाबों

और १८३५ ई० तक अङ्गरेजी अदालतों में भी फ़ारसी का ही व्यवहार होता था।

इस प्रकार नित्य प्रति का काम-काज चलाने की शिक्षा देना ही इन पाठशालाओं का उद्देश्य था। इसके अलावा जिन लोगों को ज़रा ऊँचे सभ्य समाज में आने जाने और 'तहज़ीब' से लोगों के साथ बर्त्तने का काम पड़ता था उन्हें इन स्कूलों में शिष्टाचार की विशेष शिक्षा मिलती थी। इन्हीं सब कारणों से फ़ारसी के स्कूलों में गाँव वाले भी जाते थे, और अन्य लोग भी खूब भर्त्ती होते थे। कायस्थों संख्या तो प्रायः मुसलमानों से भी अधिक होती थी। लेकिन जब से फ़ारसी अपने राजभाषा-पद से च्युत हुई इसकी आर्थिक महत्ता घट गयी। सरकारी नौकरी या बड़े-बड़े ओहदे पाने में फ़ारसी सहायक न होगी, यह बात विद्यार्थियों को जल्दी ही विदित हो गयी। इस भावना को निम्नांकित पद में यों प्रकट किया गया है :—

पढ़े फ़ारसी बेचैं तेल,
यह देखो कुदरत के खेल।

इस प्रकार फ़ारसी के स्कूलों को जो धक्का लगा उसने इनको चौपट कर दिया। लेकिन ब्रिटिश राज्य से पहले इनका काफ़ी बोलबाला था। उर्दू और फ़ारसी एक साथ एक ही मकतब में पढ़ायी जाती थीं। वस्तुतः प्रारम्भ में जो अक्षर-ज्ञान फ़ारसी के इन मकतबों में कराया जाता था वह उर्दू और फ़ारसी दोनों में एक समान था। डा० एफ़० डब्लू० टामस के

शब्दों में "बड़े स्कूल वस्तुतः छोटे स्कूलों की पढ़ाई के ऊँचे दरजे ही थे।

इन स्कूलों में पढ़ाने की शैली हिन्दी-स्कूलों की शैली से मिलती-जुलती थी। सात बरस की उम्र में बच्चे यहाँ भर्ती होते थे। अपनी तख्ती पर शिक्षक के लिखे अक्षरों पर वे उस समय तक हाथ फेरा करते थे। जब तक इनके लिखने और पहचानने की पूरी मश्क न हो जाती थी यह क्रम बराबर जारी रहता था। इन अक्षरों की पहचान और उनका ज्ञान हो जाने के बाद लड़कों को ज़ेर, ज़बर, पेश और तौवीन के निशानात सिखाये जाते थे।

हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में हिज्जे करना अधिक कठिन है; क्योंकि उसमें एक ही उच्चारण के लिए अलग-अलग कई अक्षर होते हैं; जैसे "स" का उच्चारण 'स्वाद' 'से' और "सीन" तीनों से हो सकता है। इससे शिक्षक को इनके सिखाने में अधिक समय खर्च करना पड़ता था। हिज्जे करने और अक्षरों के मिलाने के नियम सिखाने में भी काफ़ी समय लगता था। यह बात ध्यान में रखने की है कि इन मकतबों में लिखना और पढ़ना दोनों एक साथ सिखाये जाते थे।

वस्तुतः उर्दू की पढ़ाई तो यहाँ समाप्त हो जाती थी और फिर आगे फ़ारसी की पढ़ाई आरम्भ होती थी। पहली किताब जो फ़ारसी में आरम्भ में ही अक्सर पढ़ायी जाती थी उसका नाम "खालिक बारी" है। यह उर्दू फ़ारसी, अरबी और हिन्दी

का गुटका कोष है। इसमें दी हुई पहली कविता के प्रथम शब्द के अनुसार इसका नाम रखा गया है—

खालिक बारी सिरजन हार,
वाहिद एक बिदा कर्तार।

इसके बाद प्रायः 'करीमा' नाम की दूसरी किताब पढ़ायी जाती थी। इसका असली नाम 'सअदी का पन्दनामा' है, परन्तु इसके भी पहले शब्द से इसका यह सार्वजनिक नाम पड़ गया था। इस पुस्तक में नैतिक शिक्षा के लिए कविताएँ हैं। ये किताबें प्रायः रटा दी जाती थीं और पहली बार की पढ़ाई में इनका मतलब न समझाया जाता था। हिज्जे ठीक-ठीक याद कराने के लिए पढ़ाते समय हर शब्द के उच्चारण के साथ उसकी हिज्जे करनी पड़ती थी। इसको पढ़ लेने के बाद महमूद-नामा, मामुकीमाँ, गुलिस्ताँ, बोस्ताँ इत्यादि पढ़ायी जाती थीं।

चूँकि फ़ारसी राजदरबार की भाषा थी, इसलिए फ़ारसी में ख़त लिखना सिखाना भी इस पाठ्य-प्रणाली का एक आवश्यक अङ्ग था। इन्शाय माधोराम या अबुल फ़ज्ल के ख़तों के संग्रह भी पढ़ाये जाते थे। फ़ारसी पद्य के नाम से प्रायः प्रेमपूर्ण पद्य ही पढ़ाये जाते थे; यद्यपि बालकों के लिए इन पद्यों का पढ़ाया जाना उचित न था। इसी समय इमला और सुलेख का भी अभ्यास कराया जाता था। जो लड़के आगे की पढ़ाई भी करना चाहते थे, उन्हें सिकन्दरनामा (पद्य-ग्रन्थ) और बहारे-दानिश (गद्य-

ग्रन्थ) पढ़ाये जाते थे। उस ज़माने में ये किताबें फ़ारसी साहित्य में शैली के विचार से अपना सानी न रखतीं थीं।

यह सारी पढ़ाई सात से नौ बरस में पूरी हो पाती थी और मकतब छोड़ने के समय लड़कों को फ़ारसी साहित्य का काफ़ी अच्छा ज्ञान हो जाता था। इन विद्यार्थियों को फ़ारसी से तथा फ़ारसी में भी अनुवाद करने की क्षमता आ जाती थी और वह बड़े सुन्दर अक्षरों में हर प्रकार के और हर विषय के पत्र लिख सकते थे।

इन स्कूलों में व्यावहारिक शिक्षा काफ़ी दी जाती थी, फिर भी इस पाठ्य-क्रम में हिसाब-किताब कुछ भी नहीं सिखाया जाता था। कायस्थ लोग अपने लड़कों को हिसाब-किताब की शिक्षा घर पर ही दिया करते थे ; लेकिन मुसलमानों में यह कमी बनी रहती थी। व्याकरण की शिक्षा भी इनमें नहीं दी जाती थी।

ऊँचे दरजे के स्कूल—यद्यपि जहाँ-तहाँ ग्राम्य क्षेत्रों में ऊँचे दरजे के स्कूल भी खुले हुए थे, तो भी इस पुस्तक में उनका विशेष विवरण देना इसकी सीमा के बाहर होगा। इन स्कूलों का ग्राम्य जनता पर जो प्रभाव था वह विशेष रूप से सांस्कृतिक था। मुसलमानों के ऊँचे दरजे के स्कूलों में अरबी पढ़ायी जाती थी। इस पढ़ाई में व्याकरण, वैद्यक और धर्म आदि की शिक्षा सम्मिलित थी। इनके अलावा कुछ कुरान पढ़ाने वाले मकतब भी थे। अधिकतर ये मकतब मसजिदों में ही लगते थे, और इनमें लड़कों को कुरान की आयतें रटायी जाती थीं।

संस्कृत पाठशालाओं की संख्या इनसे कहीं अधिक थी और हिन्दू-समाज पर इनका प्रभाव भी प्रत्यक्ष था। यह पाठशालाएँ अधिक स्थायी थीं क्योंकि इनके शिक्षकों के लिए शिक्षण-वृत्ति ही कौटुम्बिक वृत्ति थी। इनमें पढ़ाई निःशुल्क होती थी और कई विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इससे इनके शिक्षा-क्रम का विस्तार भी बहुत था। वेदान्त, न्याय, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, मीमांसा, महाभारत, रामायण, साहित्य, फलित ज्योतिष, आयुर्वेद, मनुस्मृति और पुराणादि की पढ़ाई यहाँ होती थी। इन पाठशालाओं में हिन्दी या प्रारम्भिक गणित नहीं पढ़ाया जाता था। यद्यपि इन पाठशालाओं की शिक्षा से बहुत थोड़े लोग लाभ उठाते थे, फिर भी ग्रामीण जनता के आचार-विचार और उनके रीति रिवाजों पर इनका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता था। इन स्कूलों की इस उपयोगिता पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

विद्यार्थी—अब हम इन पाठशालाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों का विचार करते हैं। ब्रिटिश प्रवेश के पूर्ववर्ती काल में किस-किस जाति के कितने-कितने विद्यार्थी इन पाठशालाओं में पढ़ते थे यह बतलाना बड़ी कठिन बात है। मि० रीड के आठ अज़माइशी हलक़ों के सम्बन्ध में सन् १८५२ के दिये हुए अंकों को देख कर शिक्षा सम्बन्धी परिस्थिति का अटकल से कुछ अनुमान किया जा सकता है। २६,८३३ विद्यार्थियों में से (जो सब लड़के थे) ५४९१ तो मुसलमान थे; शेष में ब्राह्मण विद्यार्थियों

की संख्या ६६१४, कायस्थों की ४६५०; बनियों की ३९५८, राजपूतों की १८२१ तथा अन्य जाति के लोगों की ४२९९ थी। पहली तीन जातियाँ पढ़ी-लिखी होने के कारण उनके विद्यार्थियों की संख्या समस्त हिन्दू विद्यार्थियों की संख्या का तीन-चौथाई होती है। राजपूत लोग प्रायः ज़मींदार थे, अतः उनकी संख्या ऐसी अधिक नहीं थी। इन अङ्कों में एक और मार्के की बात यह है कि समस्त जनसंख्या के अनुपात के हिसाब से मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या का अनुपात अधिक था। जनसंख्या में उनका औसत १६ फ़ी सदी था जो अब भी उतना ही है; परन्तु मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या २० फ़ी सदी थी। ये मुसलान विद्यार्थी किन-किन उपजातियों के थे, इसका कोई ब्योरा नहीं मिलता; परन्तु यह मान लेने में विशेष हर्ज नहीं है कि इनमें बहुत से पढ़ी-लिखी और ऊँची जातियों के थे। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध था वह प्रायः ऊँची जातियों में ही अधिक फैली हुई थी।

शिक्षा का विस्तार—ऊपर दिये हुए अंक कुछ अधिक नहीं हैं और अगर हम इस बात का विचार करते हुए कि इस प्रकार की गणना करने में कितनी कठिनाई होती है, तथा घर पर शिक्षा पाने वाले लड़कों की संख्या इनमें शामिल नहीं है, इनको ठीक मान लें तो भी हम यह अनुमान कर लेने में कोई भूल नहीं करते कि उस समय शिक्षा का प्रचार बहुत अधिक न था। मि० टॉमसन के अनुसन्धानानुसार शिक्षा प्राप्त करने योग्य

विद्यार्थियों में से केवल ५ फ़ी सदी बालक ही शिक्षा प्राप्त करते थे। सौभाग्य से ग्राम्यशिक्षा की अवस्था का ख़ासा वर्णन तो सन् १८५० ई० में छपी बोहरों की पुस्तक की भूमिका में ख़ूब विस्तार से दिया हुआ है।

"बोहरे और किसान दोनों ही अशिक्षित हैं। बहुतेरे गाँवों में तो बोहरों में अविद्या इतनी अधिक फैली हुई है कि वे लोग अपने व्यवहार के लेन-देन का हिसाब भी बहियों में ठीक-ठीक नहीं लिख सकते और ज़मींदार तो प्रायः सभी अनपढ़ हैं। ऐसी परिस्थिति में अज्ञान के कारण इनके बीच कुछ न कुछ झगड़े टंटे खड़े हो जाना तो बड़ी सहज बात है। बहुतेरे साहूकार तो ऐसे हैं जो कभी कुछ लिखते ही नहीं; सिर्फ़ अपनी याद-दाश्त पर भरोसा रख कर ही सारा लेन-देन चलाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो स्वयम् तो नहीं लिख सकते, परन्तु पटवारी इत्यादि से अपना हिसाब-किताब लिखवा लेते हैं। कोई-कोई बोहरे अपने हाथ से ही ग़लत-सलत हिसाब लिख कर अपनी आत्मा को सन्तोष या धोखा देते रहते हैं। जब बोहरों की शिक्षा की यह हालत हो, जिनका सारा काम-काज बही-खाते पर चलता है, तो कृषकों का निरक्षर होना कौन आश्चर्य की बात है? यह बड़े दुख की बात है कि अज्ञान और काहिली के कारण ये लोग बालकपन में शिक्षा प्राप्त करने की ओर ध्यान नहीं देते और फिर जीवन भर अशिक्षित रह जाने से बड़ी छोटी-छोटी बातों के लिए दूसरों के आश्रित रहते हैं।"

आगरे के आस-पास की एक जाति विशेष के लोगों का शिक्षा सम्बन्धी यह वर्णन बहुत कुछ चढ़ा-बढ़ा कर लिखा हुआ मालूम पड़ता है। सम्भव है कि उपर्युक्त पुस्तक के लेखक ने अपनी पुस्तक का महत्त्व बढ़ाने की धुन में ऐसा लिख दिया हो। उसके सम-कालीन अन्य लेखकों के लेख से यह स्पष्टतया सिद्ध किया जा सकता है कि मुग़ल सत्ता के विनाशयुग में भी कुलीन तथा मध्य वर्गीय जनसमुदाय में थोड़ी-बहुत शिक्षा का प्रचार अवश्य था।

मेजर ब्राउटन ने 'हिन्दुओं में प्रचलित काव्य' नामक पुस्तक में इस सम्बन्ध में यों लिखा है:—

"जिन बातों के जानने की मुझे आवश्यकता थी उनकी जानकारी यदि सन्तोषजनक रूप में किसी से प्राप्त हो सकती थी तो हमारी पलटनों के सिपाहियों से ही। इन में हर जाति के हिन्दू हैं, जिन में अधिकांशतः ब्राह्मण और राजपूत हैं*। ये लोग प्रायः हिन्दुस्तान के सभी प्रान्तों के रहने वाले हैं। ये लोग कुलीन कृषक घरानों की सन्तान हैं और गाँव छोड़ने से पहले आवश्यक शिक्षा भी प्राप्त कर चुके होते हैं। ब्राह्मण लोग अपने धर्म के साधारण सिद्धान्तों और कर्मकाण्ड के साथ तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक कथाओं से भी भली भाँति परिचित हैं। इनमें से बहुत से सेना में भर्ती होने के पहले इन विषयों के अच्छे ज्ञाता

---

* मेजर ब्राउटन की पलटन उस समय ग्वालियर में थी और उसके अधिकांशतः सिपाही पच्छिमी संयुक्त प्रान्त और अवध के निवासी थे।

थे। थोड़े समय में इनकी पुरानी संकीर्णता कम हो जाती है और ये अपने अफ़सरों के देश और उनके रीति रिवाज़ के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक हो जाते हैं। इस जिज्ञासा-पूर्त्ति के बदले में अपने देश से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी सब बातें बतलाने को ये बड़ी प्रसन्नता से तैयार हो जाते हैं।

ऐसे ही एक सिपाही से मुझे इस पुस्तक में प्रकाशित अनेक कविताएँ प्राप्त हुई हैं। इस सिपाही के सम्बन्ध में मैंने यह बात बहुधा देखी थी कि किसी विषय पर बात करते समय वह प्रायः किसी लोकप्रिय कवि की कुछ कविता ज़रूर कह देता था। एक दिन जब उसने ऐसी ही एक कविता बड़े चाव से सुनायी और जब मैंने उसके सम्बन्ध में उससे पूँछ-ताँछ की तो बड़ी प्रसन्नता से उसने उसकी व्याख्या कर डाली। उसकी कविता सुन कर मैंने उससे उस कविता को मुझे लिखकर देने की इच्छा प्रकट की और जब मैंने उसकी व्याख्या सुनी तो उस काव्य में इतनी सरसता और उसके विचारों में इतनी कोमलता मुझे प्रतीत हुई कि मैंने उससे उसकी भाषा आदि के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की। मैंने उससे यह भी कहा कि इसी प्रकार की कविताओं का एक संग्रह वह मेरे लिए तैयार कर दे और वह सहर्ष इसके लिए राज़ी भी हो गया। मेरी इस जिज्ञासा का हाल सारी पलटन को मालूम हो गया और बहुत से सिपाहियों ने मेरे इस कौतूहल को पूरा करने के लिए आ-आ कर मुझे इस सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी करा दी। अपने देश की कविताओं और

ग्राम्य-गीतों के इस विवेचन में मेरी सरल और सच्ची जिज्ञासा से प्रभावित होकर वे लोग बड़े गौरव से मेरी सहायता करते थे और उनके इस प्रेम और श्रद्धा ने मुझे अपने इस कार्य के सम्पादन में बड़ा उत्साह और सन्तोष प्रदान किया।"

सन् १८५२ ई० की इण्डिया एजूकेशन रिपोर्ट में कनिंघम साहब का निम्नलिखित कथन उद्धृत किया गया था :—

"भारत के लोगों में ज्ञान सम्पादन की इच्छा का अभाव नहीं है। स्पेन या ग्रीस के तुल्य सभ्य देश भारत में नित्य-प्रति जीवन के काम-काज चलाने के योग्य पढ़ने-लिखने और हिसाब की शिक्षा अवश्य दी जाती है और साहित्यिक और वैज्ञानिक पाण्डित्य के लिए हिन्दू और मुसलमानों में युरोपियन लोगों के समान ही आदर मिलता है। मध्य भारत और युक्त प्रान्त के कायस्थ, पञ्जाब के खत्री और काश्मीर, बङ्गाल और दक्खिन के ब्राह्मण अपने बालकों को नियमित रूप से शिक्षा देते हैं जिससे वे सरकारी दफ़्तर या किसी सेठ साहूकार की नौकरी कर सकें।

ब्राह्मण अपने बालकों को पारिवारिक पुरोहित और ज्योतिषी, अथवा मुंशी या छोटा-मोटा अफ़सर बनाने की दृष्टि से शिक्षा दिलाते हैं। बोहरे और बनिये अपने लड़कों को हिसाब-किताब में खूब पक्का कर देते हैं और आवश्यकतानुसार वही खाते के काम में भी उस्ताद बना देते हैं। ग़रीब से ग़रीब मुसलमान की यही इच्छा रहती है कि उसके लड़के कम से कम एक बार तो ज़रूर ही कुरान पढ़ लें। यद्यपि उन्हें भाषा का कुछ भी ज्ञान नहीं हो

पाता फिर भी उसके अक्षरों के ज्ञान मात्र से फारसी में बड़ी सहायता मिलती है। बहुधा अंग्रेज़ी विभाग के दफ्तरों में नौकरी मिलने की आशा से लड़के अंग्रेज़ी स्कूलों में भरती करा दिये जाते हैं, क्योंकि अंग्रेज़ी विभाग के दफ़्तरों में देशी भाषा विभाग की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता है। कुरान हिफ़्ज़ कराने, फ़ारसी पढ़ाने, अथवा देशी भाषा के सिखाने के लिए और व्यापारी शिक्षा देने के लिए हर शहर या क़सबे में एक या एक से अधिक स्कूल अवश्य ही मिलेंगे। इनमें अध्यापकों को चार आना या इससे अधिक फ़ीस और इसके अलावा सीधा सामान, कपड़े-लत्ते, ईंधन, अथवा अन्य कई प्रकार की सहायता मिलती ही है। वहाँ मौलवी साहब या पंडितजी का जो सम्मान होता है वह अत्यधिक है। इसी तरह मुसलमानों का अरबी क़ानून ज्ञान अथवा फ़ारसी कविताओं की जानकारी भी लोक-प्रसिद्ध है। कैसा भी कम या अधिक पढ़ा-लिखा हिन्दू क्यों न हो उसे तुरन्त "शास्त्री", या "सिद्धान्ती जी" आदि की पदवी मिल जाती है। हिन्दू और मुसलमान दोनों के शिष्ट समुदाय में यह लोकोक्ति प्रचलित है कि ज्ञान "शराफ़त या इन्सानियत का पदक और मनुष्यता का चिन्ह है।"

तत्कालीन दोनों लेखकों के उपर्युक्त लेखों से यह बात तो स्पष्ट ही है कि उन दिनों ग्राम्य समुदाय में भी शिक्षा का प्रचार किसी न किसी रूप में जरूर था। बालकों को शिक्षा अधिकांशतः घर पर ही, घर पर पढ़ाने वाले अध्यापक या अभिभावकों द्वारा

मिलती थी। समयोचित शिक्षा तो तत्कालीन मध्य श्रेणी के लोग और साहित्यसेवी समाज अवश्य प्राप्त करता था। हाँ, ग्राम्य जनता का अधिकांश—विशेष रूप से निम्न वर्ग—तो शिक्षा के नाम से बिलकुल कोरा ही रहता था।

इतनी संख्या में स्कूलों के वर्तमान होते हुए भी इस अवस्था का कारण केवल प्रजा की शिक्षा के प्रति उदासीनता ही थी। प्रचलित प्रथा के अनुसार उन्हें अपने लड़कों को स्कूल भेजना आवश्यक था। उनके दैनिक जीवन की नीरसता में कुछ परिवर्तन हो जाने से जो कौतूहल उत्पन्न होता था, इससे वे अपने लड़कों को स्कूल भेज देते थे। लेकिन स्कूल में केवल भरती हो जाने से यह तात्पर्य न था कि वे कुछ काल तक विद्यालयों में टिक कर विद्यालाभ कर सकेंगे। श्रीयुत रीड साहब के मतानुसार प्रत्येक भारतीय के छात्रजीवन का औसत अधिक से अधिक डेढ़ साल था। परन्तु यह अवधि भी वास्तविक अवस्था का बोध नहीं कराती; क्योंकि स्कूल की मंजूरशुदा छुट्टियों के अतिरिक्त, जो एक महीने में ७ दिन की होती थीं, प्रायः कई दिनों तक बालक स्कूल का मुँह न देख पाते थे।

ग़दर के समय में प्रसिद्धिप्राप्त राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने (जो युक्तप्रान्त में स्कूलों के पहले हिन्दुस्तानी इन्स्पेक्टर थे) सन् १८८२ के जाँच कमीशन के सामने इस प्रान्त के लोगों की ग़रीबी के कितने ही उदाहरण दिये थे। उन्होंने कहा था, "पहले लोगों का पेट भरना चाहिए फिर उनको शिक्षित बनाना चाहिए।

ग़रीबी ही एक ऐसी वला है जो लोगों को उपयोगी और वांछनीय बातों से दूर रखती है। छोटे-छोटे बच्चे खेतों से चिड़ियाँ उड़ाने में, ईंधन के लिए गोबर जमा करने में, चौपायों को चराने और पानी पिलाने में और वास्तव में ग्राम्य-जीवन के हर काम में अपने माँ-बाप की मदद करते हैं। माँ-बाप अपने बच्चों की इस मदद से अपने आपको वंचित नहीं रख सकते। हाँ, जो लोग ऐसा कर सकते हैं वे अपने बच्चों को किसी पास के स्कूल में भेजने के इच्छुक ही नहीं, वरन् उत्सुक रहते हैं।"

राजा साहब जैसे साम्य विचारवादी और अनुभवी व्यक्ति के इस कथन से यथार्थ अवस्था का दिग्दर्शन हो जाता है। यह अवश्य कहना पड़ेगा, कि कृषक अपने बच्चों की मदद से ही अपने को वंचित न समझते थे, वरन् उनके इस तरह शिक्षित बन जाने में वे कोई अच्छाई या भावी लाभ भी अनुभव नहीं करते थे। परिणाम स्वरूप जो माँ-बाप अपने बालकों को स्कूल भेजते भी थे, वे उनकी तात्कालिक सहायता मिलने में बाधा पड़ने के कारण स्कूल भेजना बन्द कर देते थे और यह एक प्रकार से आवश्य-म्भावी भी था। हिन्दी स्कूलों में बालक ८—९ बरस की अवस्था में भरती होते थे और दो-एक साल ही में पढ़ना छोड़ देते थे।

इस प्रकार की व्यवस्था के कारण स्कूलों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता था। लम्बी गैरहाजिरी या छुट्टी के कारण बालक अपनी पढ़ाई-लिखाई सब भूल जाते थे। अतः एक बार पढ़ा हुआ पाठ भूल जाने के कारण ही दुबारा फिर पढ़ाया जाता था।

इन सब बातों से स्कूल की कार्योपयुक्तता में भी कमी रहती थी और साथ ही उसकी स्थिति डाँवाडोल रहती थी। स्कूल स्थिर होकर चल भी नहीं पाते थे। प्रतिवर्ष स्कूलों का नये सिरे से निर्माण होता था और जब तक गाँव के पढ़े-लिखे कुटुम्बों में बालकों को इतनी संख्या रहती थी जिससे शिक्षक की जीविका चल सके तब तक शिक्षक उस गाँव में रह कर प्रति वर्ष नया स्कूल खोलने में कोई हानि न समझता था। परन्तु जब बालकों की संख्या में कमी हो जाने के कारण जीविका चलाने में कठिनाई पड़ने लगती थी तब शिक्षक दूसरे गाँव में चला जाता था। इस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले अनेक स्कूल बहुत ही कम समय तक चल पाते थे। उच्च श्रेणी के स लों में, जहाँ शिक्षा द्वारा जीविका चलाना परम्परागत कार्य था, और जहाँ निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी, इतने परिवर्तन न होते थे। जिन स्कूलों में अध्यापक "घरू शिक्षक" के तौर पर कार्य करता था, वे स्कूल भी अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होते थे।

उच्च शिक्षा देने वाले स्कूलों की उपस्थिति प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले बिचारे शिक्षक के लिए प्रायः हानिकारक ही प्रमाणित होती थी। पहले तो वे उच्च श्रेणी की शिक्षा ही देते थे, इससे प्रारम्भिक स्कूलों की ख्याति में बाधा पहुँचती थी। दूसरी बात यह थी कि उच्चश्रेणी के स्कूलों में निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी, इससे अधिकांश बालकों का आकर्षण उधर ही हो जाता था। जो थोड़े-बहुत बालक बच रहते थे उनको उस निम्न श्रेणी की शिक्षा

के लिए शुल्क देना पड़ता था। तीसरी बात यह थी कि उच्च श्रेणी के शिक्षक विद्या न वेचने के कारण श्रद्धास्पद माने जाते थे और इसके विपरीत विद्या बेचने के कारण प्रारम्भिक स्कूलों के शिक्षक अधिक मान की दृष्टि से न देखे जाते थे। लेकिन देश निर्धन था, अतः शिक्षा की माँग कम थी और फलतः शिक्षकों की आय भी तदनुसार बहुत स्वल्प हुआ करती थी। अतः यह स्वाभाविक बात थी कि जो लोग इस क्षेत्र में जीवन निर्वाह के लिए उतरते थे वे ऐसी श्रेणी के लोग न होते थे जिनके प्रति जनता की श्रद्धा और विश्वास हो।

देशी स्कूलों की शिक्षा—पुराने स्कूलों का जो वर्णन प्राप्त है वह केवल उनके बाह्य स्वरूप का ही विवरण है और जहाँ तक मेरी जानकारी है उनकी भीतरी चर्या का कोई वर्णन प्राप्त नहीं है। मेरी शिक्षा-दीक्षा तीन प्रकार के पुराने स्कूलों में हुई है। मुझे घर पर उर्दू पढ़ाने के लिए एक मौलवी साहब आते थे, अतः मुझे उनके अन्तरंग स्वरूप का परिचय है। लेकिन एक बात मैं यहाँ बता देना चाहता हूँ कि जिन स्कूलों में मैंने शिक्षा पायी थी, वे इस समय प्रायः लुप्त हो चुके हैं।

सुन्दर खम्भों और मुग़लकालीन मेहराबों से सुसज्जित, मेरे घर से दो फर्लाङ्ग पर एक छोटा सा मन्दिर था। इसमें एक दालान था। इसी में पंडित मोतीलालजी भट्ट अपनी पाठशाला लगाया करते थे। इस पाठशाला में अधिक से अधिक २० बालक थे

और यहाँ हिन्दी की पढ़ाई होती थी। मुझे अब पण्डितजी के विषय में अधिक बातें स्मरण नहीं रहीं हैं, तथापि इतना तो स्मरण है कि हिन्दी पढ़ना-लिखना मैंने इसी पाठशाला में सीखा था। वहाँ खड़िया मट्टी के घोल में सरकंडे की कलम से पट्टी पर बारहखड़ी लिखने का ही मुख्य कार्य था। इस पाठशाला के मेरे जीवन में वह बड़ा ही सुदिन था जिस दिन पण्डितजी ने मुझ से खास-खास व्यक्तियों के नाम लिखवाये थे। मुझे लिथोप्रेस की छपी प्राइमर भी पढ़ने को मिली थी। बस इस पाठशाला में अधिक से अधिक इतनी ही पढ़ाई होती थी।

पण्डित जी अनुशासन में काफ़ी कड़ाई करते थे। स्कूल तो तिराहे पर था, फिर भी रास्ते का ध्यान हम लोगों को नहीं रहता था। थोड़ी भी ग़लती या काम में ढिलाई हुई कि 'चश्मा लगाने वाले पण्डितजी' सब ताड़ जाते थे। उनके हाथ में बेत तो ज़रूर ही रहता था, लेकिन उसका व्यवहार बहुत कम किया जाता था। कड़ी निगाह और डाँट फटकार सुनते ही हम सब ठीक-ठिकाने बैठ जाते थे।

ये पंडितजी ब्राह्मण थे, अतः पखवारे में एक बार उनके लिए एक सीधा पहुँचाया जाता था। इसके अतिरिक्त मेरे चाचा और बाबा जी उनको कुछ नक़द फ़ीस अलग दिया करते थे। यह फ़ीस कितनी दी जाती थी, यह मुझे ठीक-ठाक विदित नहीं है, परन्तु मेरी समझ में यह फ़ीस केवल कुछ आने ही दी जाती होगी।

इस पाठशाला में केवल पढ़ाई ही नहीं होती थी वरन् बालकों के लिए खेल-कूद और मनोविनोद के भी मौके आ जाते थे। प्रति दिन छुट्टी होने से पहले पाठशाला के सभी बालक एक लैन में खड़े हो कर खूब जोर से चिल्ला कर पहाड़े बोलते थे। दो-तीन घंटे चुप-चाप बैठ कर काम करने के कारण बालकों में जो एक प्रकार की सुस्ती सी आ जाती थी वह ऊँची आवाज़ से और गा-गा कर पहाड़ों का पाठ करने में हवा हो जाती थी। इस प्रकार पहाड़े दुहराने में किसी प्रकार का भार भी मस्तिष्क पर न पड़ता था। जिस बालक की बारी पहाड़े बुलवाने की होती थी, सिर्फ उसे इस बात का बड़ा ध्यान रखना पड़ता था, कि तनिक भी ग़लती न होने पाय, क्योंकि ऐसा होने पर उसे तुरन्त ताड़ना मिलती थी।

पंडितजी की इस पाठशाला की पढ़ाई थोड़े ही दिनों में पूरी करके मैं अपने पिता के पास प्रयाग भेज दिया गया और वहाँ एक महाजनी पाठशाला में पढ़ने के लिए बैठा दिया गया। यहाँ वहीखाता, गणित, और महाजनी पढ़ायी जाती थी। यह पाठशाला शहर के बीचोबीच महाजनीटोले में लगती थी। एक महाजन ने अपना दालान और चबूतरा इस काम के लिए दे रखा था। इसमें एक गुरूजी पढ़ाया करते थे। पाठशाला में चालीस से अधिक विद्यार्थी थे, अतः गुरूजी के दोनों पुत्र भी उनकी मदद पर रहते थे। उनका छोटा पुत्र तो अभी सोलह बरस का ही होगा। दिन में दो बार पाठशाला लगती थी। सवेरे आठ बजे से ग्यारह बजे तक और अपराह्न में दो या

तीन बजे से पाँच बजे तक। बड़े नगर में छोटे-छोटे बालक अकेले पाठशाला आने में असमर्थ थे; इसलिए गुरूजी का बड़ा पुत्र लड़कों को उनके घरों से ले आता और फिर उन्हें पहुँचा आता था। लेकिन वह उन्हीं बच्चों के घर पर जाता था जो घर के मालदार और प्रतिष्ठित होते थे और पढ़ाई भी आठ आने या इससे कुछ अधिक देते थे। इस पाठशाला में छोटी-बड़ी उम्र के और ऊँची-नीची जाति के सभी तरह के लड़के पढ़ते थे।

पाठशाला में पहुँच कर हमीं लोग उसे खोला करते थे। पहले दालान की सफ़ाई की जाती थी। फिर एक कमरे में रखी अधफटी चटाइयाँ निकाल कर झाड़ी और बिछायी जाती थीं। पट्टियाँ भी वहीं रखी रहती थीं। सब लड़के अपनी-अपनी पट्टियाँ निकाल कर घोटते थे। इसके बाद पढ़ाई शुरू होती थी। पहाड़े और गुर रटाये जाते थे। सुलेख लिखाने का भी अभ्यास कराया जाता था। किसी प्रकार की लापरवाही या काहिली अक्षम्य थी और ज़रा सी भी ग़लती करने पर सज़ा मिलती थी। इससे काम अच्छा होता था। ऐसा काम अब नये स्कूलों में देखने को भी नहीं मिलता। पट्टी के बाद काग़ज़ पर लिखाना शुरू कर दिया जाता था। गुरूजी ने बहुतेरी पुरानी बहियाँ एकत्र कर रखी थीं। इन्हीं की नकल हम लोगों से करायी जाती थी। इसके अतिरिक्त व्यापार सम्बन्धी पत्र, हुण्डी आदि भी लिखायी जाती थीं। महाजनी में पत्र-व्यवहार करना एक बड़े महत्त्व की बात है, क्योंकि महाजनी में किसको किस प्रकार का सम्बोधन

या शीर्षक देकर लिखना चाहिए, यह साधारण तरह के पत्रों से भिन्न होता है। हिन्दी में भी पत्र लिखना सिखाया जाता था और जब मुनीमी के काम के लिए अच्छी योग्यता प्राप्त हो जाती थी तो किसी देशी दुकान में काम मिलने में कठिनाई न होती थी। हमारे गुरूजी का बहुत से महाजनों के साथ अच्छा परिचय था; क्योंकि बहुतेरे महाजन और बहुतेरे बड़े-बड़े मुनीम भी तो उन्हीं के पढ़ाये हुए थे। इससे उनकी सिफ़ारिश से लड़कों को कहीं न कहीं मुनीमी ज़रूर मिल जाती थी और उनकी पाठ-शाला में पढ़ना इसके लिए काफ़ी सिफ़ारिश समझी जाती थी।

इस पाठशाला में गुरू जी को नक़द वेतन मिलता था। कभी-कभी मेरी मातामही कुछ सामान भेंट के रूप में भेजवा देती थीं; परन्तु वह केवल अपनी इच्छा से। इसका कोई नियम न था। अमीर घरों के लड़के गुरू जी को "जड़ावल या जाड़ों के कपड़े" देते थे। हाँ, गुरुपूजा के दिन सभी लड़के गुरूजी की पूजा के लिए जब तक कुछ दक्षिणा जमा न कर लेते, तब तक कुछ भी भोजन न करते थे। अच्छे-अच्छे महाजन लोग बढ़िया कीमती कपड़े, मिठाई, दक्षिणा, बरतन आदि से गुरूजी की पूजा करते थे और ग़रीब लोग फल-फूल और बताशे ही गुरूजी के सामने रख कर अपनी श्रद्धा का परिचय देते थे। लेकिन सब लोग फूलों की एक-एक माला तो ज़रूर ही लाते थे।

पहले हर बालक गुरू जी के सामने जाता और झुक कर प्रणाम करता था, फिर गुरू जी के माथे पर चन्दन लगा कर उनके गले में

माला डाली जाती और फिर साथ में लाया गया सामान उनके सामने रख दिया जाता था। इसके बदले में प्रसन्नता और स्वीकृति के चिह्न स्वरूप, गुरू जी भी उसके माथे पर टीका लगा कर थोड़ी सी मिठाई फल-फूलादि प्रसादी के रूप में उसे दे देते थे। संस्कृत पाठशालाओं में यह पूजन बड़ी विधि से होता था, क्योंकि यहाँ बड़े नियम से मन्त्रोच्चारण के साथ सब काम किया जाता था। एक प्रकार से यह उत्सव एक धार्मिक अनुष्ठान सा बन गया था।

बच्चों के लिए महाजनी पाठशाला में सब से अच्छा दिन नागपंचमी का होता था। उस दिन विद्यार्थी अच्छे से अच्छे कपड़े पहनते और डंडे बजा कर गाते निकलते थे। साथ में सुर मिला कर बाँसुरी और ढोलक भी बजती चलती थी। ऐसा ही "स्वोर्ड डेंस" का खेल मैंने इंग्लैंड में आक्सफर्डशायर के एक ग्राम्य स्कूल के बच्चों को खेलते देखा है। हमारी पाठशाला के सभी बालक एकत्र होकर टोली बना कर गाते-बजाते हुए निकलते और अपनी टोली के प्रत्येक बालक के घर पर जाकर उसके द्वार पर श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित कोई घटना-चित्र या किसी अन्य देवता का रंगीन चित्र लगा देते थे। इस प्रकार सारे शहर का चक्कर हो जाता था। शाम को सब लोग बाज़ार में एकत्र होते थे; वहाँ अन्य पाठशालाओं के विद्यार्थियों की टोलियाँ भी आती थीं और खेल-खेल में काफ़ी प्रतिद्वन्द्विता हो जाती थी।

मैं मुनीम बनने के लिए इस पाठशाला में नहीं भेजा गया

था, मेरे लिए वो गणित का अच्छा अभ्यास कर लेना ही वहाँ जाने का उद्देश था। इस महाजनी पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करने पर मुझे एक संस्कृत पाठशाला में बैठा दिया गया। यहाँ बालकों की संख्या लगभग ४० और कभी-कभी इससे भी अधिक रहती थी। फ़ीस कुछ भी नहीं ली जाती थी। यहाँ अधिकांश बालक निर्धन थे, अतः उनके रहने और भोजन की व्यवस्था भी पाठशाला की ओर से ही होती थी। यहाँ मुझे अमरकोष याद कराया गया और लघुकौमुदी भी याद करने के लिए दी गयी। इनकी कुछ बातें मुझे समझायी भी गयीं थीं, किन्तु उस समय वे मेरी समझ में नहीं आती थीं। यहाँ की पढ़ाई मुझे बड़ी कठिन प्रतीत होने लगी और मेरी इच्छा अंग्रेजी पढ़ने की हुई। उस समय वेद के कुछ सूक्त भी मुझे याद कराये गये थे।

नित्य की पढ़ाई-लिखाई के अतरिक्त संस्कृत पाठशाला की अन्य बातें भी उल्लेखनीय हैं। पाठशाला के पंडितजी को संस्कृत की अगणित कहानियाँ याद थी। उनको समय-समय पर सुना कर वे हम लोगों का मनोरंजन भी करते थे और शिक्षा भी देते थे। पाठ पढ़ाते समय इन कथाओं को उदाहरण के रूप में कह कर वे पाठ्य-विषय को समझा देते थे। बालकों के विद्यार्थी-जीवन के आदर्श और भविष्य की रूपरेखा अनजाने ही इसी पाठशाला में बन जाती थी। हम लोगों को छोटे-छोटे बहुत से श्लोक याद करा दिये गये थे। इनमें श्री शंकराचार्य रचित प्रश्नो-

त्तरी के श्लोक भी थे। मैं यहाँ पर कुछ श्लोकों का उद्धरण करता हूँ। इससे विदित हो जायगा कि ये श्लोक विद्यार्थी समुदाय में किन भावों का प्रवेश कर देते थे, क्योंकि इन विद्यार्थियों में गुरु के प्रति परम्परागत श्रद्धा होने के कारण उनके मुख से जो भी निकलता था वह अत्यन्त हितकर समझ कर ग्रहण कर लिया जाता था। प्रश्नोत्तरी की तो विशेष महिमा थी, क्योंकि यह तो साक्षात् श्री शंकराचार्य द्वारा प्रणीत थी।

अपारसंसारसमुद्रमध्ये संमज्जतोमेशरणं किमस्ति।
गुरोःकृपालोःकृपया वदैतद्विश्वेशपादांबुजदीर्घनौका॥

'इस अपार संसार-सागर में मुझ डूबते हुए का शरण क्या है, हे कृपाल गुरु कृपा करके मुझे बतावें? इसे पार करने के लिए विश्वेश के कमल पद रूपी बड़ी नौका प्रस्तुत है।'

विष क्या-क्या हैं?

हर प्रकार के विषय भोग।

कौन लोग सदा दुःखी रहते हैं?

जो लोग विषयों में लिप्त रहते हैं।

कौन लोग प्रशंसनीय हैं?

जो लोग परोपकार करते हैं।

पूजनीय कौन हैं?

जो पदार्थों की वास्तविकता को देख लेते हैं।

निर्धन कौन है?

जिसमें अनेक बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ हैं।

अमीर कौन है ?

सन्तोषी।

जीवित ही मृत कौन है ?

जीविकाहीन।

मृत्यु तक कौन बातें धोखे में रखती हैं ?

झूठी आशाएँ।

बिजली के वेगवाली वस्तुएँ क्या हैं ?

धन, यौवन और आयुष्य।

सब से उत्तम पारितोषिक क्या है ?

जो योग्य पुरुष को दिया जाय।

मृत्यु पर्यन्त पुरुष का क्या कर्त्तव्य है ?

धर्मपथ का अनुसरण करना।

चाणक्य नीति भी इन पाठशालाओं में खूब पढ़ायी जाती थी। बालकों पर इसका आश्चर्यजनक प्रभाव था, क्योंकि इसकी भाषा अत्यन्त सरल, शैली निर्मल तथा ओजपूर्ण है। यही बात उक्त प्रश्नोत्तरी के विषय में भी कही जा सकती है। यहाँ चाणक्य नीति से उद्धृत कर के एक-दो श्लोकों का अर्थ दिया जाता है :—

'जिन माता-पिता ने अपने बच्चों को शिक्षित नहीं बनाया, वे अपने बच्चों के शत्रु हैं क्योंकि वे शिक्षितों के समुदाय में हंसों में बक के समान दिखायी देते हैं।'

'प्रत्येक पहाड़ में रत्न नहीं मिलते, प्रत्येक हाथी में मुक्ता नहीं मिलता और न हरेक वन में चन्दन के वृक्ष ही मिलते हैं और न हर जगह सच्चे महात्मा ही मिलते हैं।'

कभी-कभी बड़े-बड़े विद्यार्थी पाठ्य विषय में से किसी विषय पर शास्त्रार्थ भी करते थे। वह सदैव संस्कृत में ही हुआ करता था। परीक्षा तो उन दिनों होती न थी, अतः शास्त्रार्थ में जीत हो जाना ही बड़ी प्रतिष्ठा की बात थी। नगर के प्रतिष्ठित विद्वान इन शास्त्रार्थों में उपस्थित होते थे और होनहार विद्यार्थी पर उनकी दृष्टि अवश्य पड़ जाती थी। इन शास्त्रार्थों में जो विद्यार्थी अद्वितीय प्रखरता का परिचय देता था उसको उपस्थित पंडित समाज अनेक धन्यवाद देता और "न्याय रत्न" "वेदान्तकेसरी" आदि की उपाधि से उसे अलंकृत करता था। लेकिन ये उपाधियाँ केवल वास्तव में योग्य विद्यार्थी को ही मिल पाती थीं, क्योंकि पंडित लोग प्रायः अनुदार भी होते थे और उपाधियाँ इतनी शीघ्रता से नहीं दे देते थे।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि इन पाठशालाओं का संसार ही विभिन्न था। अधिकारियों के प्रति विशेष प्रकार की श्रद्धा विद्यार्थियों में उत्पन्न की जाती थी, और साथ ही साथ एक प्रकार का विश्वास और धर्म-निष्ठा विद्यार्थियों के जीवन का एक अंग बन जाती थीं। इस प्रकार उसके जीवन का सारा दृष्टिकोण ही संकीर्ण हो जाता था। अपने कर्त्तव्यों का तो उसे पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता था, परन्तु अपने अधिकारों का यह

कोई मर्म न जानता था। इस प्रकार की शिक्षा से वह आदर्शवादी तो अवश्य ही बन जाता था, परन्तु उसमें स्ववृद्धि की लालसा बिलकुल न रह जाती थी। यह शिक्षा उसे इतना चिन्तनशील बना देती थी कि वह व्यवहारकुशल नहीं हो पाता था। इन संस्कृत पाठशालाओं में इसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। इस विषय पर विस्तृत विचार इसी अध्याय में आगे किया जायगा।

प्राचीन शिक्षा प्रणाली के प्रधान लक्षणों पर एक दृष्टि

१—रटाने की प्रवृत्ति

२—लिखाने के अभ्यास का अभाव

३—परीक्षाओं का न होना

४—मानीटर की प्रथा

५—कक्षा-प्रथा का न होना

प्रारम्भिक तथा उच्च शिक्षा देने वाले दोनों ही प्रकार के स्कूलों में लड़कों से अधिकतर रटाई का काम लिया जाता था। शिक्षा में मौलिकता को कोई स्थान प्राप्त न था। प्राचीन ग्रन्थ ही ज्ञान-कोष की सीमा समझे जाते थे। इसलिए विद्यार्थियों के लिए सर्वोत्तम मार्ग यही था कि वे उन ग्रन्थों का अध्ययन करें। लेकिन पुस्तकें भी उस समय इतनी सरलता से नहीं मिलती थीं। १८वीं सदी के दूसरे और तीसरे दशक से पहले प्रेस की छपी पुस्तकें संयुक्त प्रान्त में प्रचलित नहीं हो पायीं थीं। सार्वजनिक पुस्तकालयों का तो सर्वथा अभाव था; व्यक्तिगत पुस्तकालयों में अपरिचित पुरुष का प्रवेश दुष्कर था। पुस्तक प्राप्त होने पर

भी नकल कर लेने में आर्थिक और अन्य अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ पड़तीं थीं। फिर पुस्तकों की माँग भी न थी। इसीसे जल्दी लिखने की गति का विकास न हो सका। जिसके पास कोई पुस्तक होती थी, उसे सदा यही डर लगा रहता था कि कहीं कोई दूसरा व्यक्ति उसे चुरा न ले जाय।

इस प्रकार पुस्तकों पर भरोसा न रख कर ज्ञान-भांडार को अपने मस्तिष्क में जमा कर लेना उचित समझा जाता था। इसी लिए संस्कृत में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है:—'पुस्तकस्था तु या विद्या, पर हस्ते गतं धनम्......, अर्थात् 'पुस्तक की विद्या और पराये हाथ का धन समय पड़ने पर कभी काम नहीं आता।' इसी से रटने में सरलता उत्पन्न करने वाले उपायों का आविष्कार किया गया था। निबन्ध की अपेक्षा। कविता याद करने में अधिक सरलता होती है। लम्बे लम्बे पैराग्राफ़ों की अपेक्षा छोटे-छोटे वाक्यों को याद कर लेना सरल है। इसी तरह पर जो बात गा-गा कर याद की जाती है वह अधिक सरलता से याद रहती है। इसलिए शब्द-कोष, आयुर्वेद, ज्योतिष, औषधि, गणित, वेदान्त आदि जैसे निबन्धात्मक विषयों को भी काव्य में परिणत कर दिया गया था। और व्याकरण के सूत्र बना दिये गये थे। नित्यप्रति के व्यवहार में आने के लिए गणित के नियमों के 'गुरु' बना दिये गये थे।

परन्तु इन सब बातों से यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि रटाई की प्रथा सभी स्कूलों में प्रचलित थी। कुछ पाठशालाएँ

ऐसी अवश्य थीं जिनमें विद्यार्थी की विचार-शक्ति के विकास के लिए भरपूर अवसर दिया जाता था, लेकिन इनमें भी प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार में रटाई को आवश्यक अङ्ग मान लिया गया था। ग्राम्य पाठशालाओं में तो कण्ठस्थ-प्रथा पूरे तौर से देखने में आती थी।

लिखने का अभ्यास भी सामग्री के अभाव के कारण अधिक नहीं हो पाता था। पट्टी या तख्ती के अभ्यास से एक निश्चित सीमा तक ही गति प्राप्त हो सकती थी क्योंकि पट्टी पर छोटे-छोटे अक्षर लिखना कठिन है। काग़ज उस समय कठिनाई से मिलता था और मूल्य भी उसका अधिक होता था। बड़ी उम्र के लोग भी कठिनाई से "ताड़पत्र", या "भोज पत्र" का व्यवहार करते थे जो सदियों तक बिगड़ता नहीं था ; फिर बच्चों को लिखने का अभ्यास कराने के लिए काग़ज़ मिल ही कैसे सकता था ? इसके अलावा गाँवों में लिखने-लिखाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी। चिट्ठी-चपाती भी कदाचित् ही कभी लिखी जाती हो। बनियों या महाजनों के लड़कों को वही खाता लिखने का पाठशाला में अच्छा अभ्यास करा दिया जाता था, क्योंकि स्वच्छ, और सुन्दर लिखावट का अभ्यास किये बिना वे मुनीमी के योग्य नहीं समझे जाते थे। लेकिन ऐसे बालकों को भी लिखने का अभ्यास कराने के लिए काग़ज़ इतनी सुविधा से न मिलता था। यद्यपि उपयुक्त अभ्यास में कमी रह जाती थी, फिर भी उनकी लिखावट उत्तम कोटि की होती थी। एक दो सदी की

पुरानी बहियों के देखने का अवसर मुझे मिला है। उनकी लिखावट देख कर मैं दङ्ग रह गया। फ़ारसी के स्कूलों में तो लिखावट का अभ्यास करना एक कला का काम समझा जाता था। लोग इसका संरक्षण भी अच्छा करते थे। ब्रिटिश काल के पूर्व की फ़ारसी, अरबी, हिन्दी या संस्कृत की उत्तम कोटि की हस्तलिखित पुस्तकें इस बात को भली भाँति प्रमाणित कर देती हैं।

दूसरी विशेष बात यह थी कि इन पाठशालाओं में किसी प्रकार की परीक्षा नहीं ली जाती थी। अध्यापक और विद्यार्थी में परस्पर इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था कि अध्यापक अपने विद्यार्थी की योग्यता से भली भाँति परिचित होता था; अतः उसे उसकी योग्यता जानने के लिए किसी अलग परीक्षा की आवश्यकता न पड़ती थी। परीक्षा का दूसरा उपयोग अब यह है कि उसकी सहायता से जीविका या प्रतिष्ठा प्राप्त करने में मदद मिलती है; लेकिन उन दिनों नौकरी चाकरी करने के लिए तो विद्या पढ़ी नहीं जाती थी! सभी को अपनी-अपनी परम्परागत जीविका मिल जाती थी। जीविकाएँ तो उनकी जातिगत या कुल परम्परा के अनुसार निश्चित रहती थीं और उनमें विद्या की प्रतिष्ठा के लिए परीक्षा कोई माप नहीं थी, परन्तु जो लोग जीवन भर अपने पाण्डित्य की मर्यादा बनाये रख सकते थे, विद्वान समझे जाते थे। इस प्रतिष्ठा की प्राप्ति के लिए धार्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ कर उनमें जीत होने से किसी व्यक्ति की योग्यता का परिचय मिल जाता था और इन्हीं के द्वारा विद्वानों की कीर्त्ति चमकती

थी। विद्या के संरक्षक भी परीक्षा को आवश्यक नहीं समझते थे। यद्यपि परीक्षा का अभाव कुछ लोगों को अवश्य ही पाण्डित्य प्राप्ति के लिए उत्साहित करता था, फिर भी इसके अभाव में साधारण विद्यार्थियों की योग्यता का कोई माप नहीं था।

वड़े-बड़े स्कूलों में एक ही अध्यापक के होने से विद्यार्थियों में 'मानीटरों' द्वारा अनुशासन रखने की प्रथा चल पड़ी थी और ऊँची पढ़ाई के विद्यार्थियों के ही पढ़ाने में अध्यापक का इतना अधिक समय निकल जाता था कि प्रारम्भिक अध्ययन करने वालों को पढ़ाने का काम किसी ऊँची पढ़ाई करने वाले विद्यार्थी को सौंप देना पड़ता था। यह क्रम प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूलों में प्रचलित नहीं था। क्योंकि इस स्कूल के अच्छे से अच्छे लड़के में भी इतनी योग्यता नहीं हो सकती थी कि स्कूल के पिछड़े हुए बालक को स्वतः पढ़ा सके। फिर एक बात यह भी थी कि इन स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या थोड़ी ही रहा करती थी और अध्यापक का समय भी अपेक्षाकृत प्रत्येक विद्यार्थी पर कम खर्च होता था।

इन स्कूलों में श्रेणियाँ भी नहीं होतीं थीं। सभी बालक एक साथ बैठ कर पढ़ते थे। प्रत्येक बालक अलग-अलग जो विषय पढ़ना चाहता, पढ़ता था। पढ़ने के लिए भी किसी विशेष पुस्तक का नियम न था। विद्यार्थी जो पुस्तक चाहता पढ़ने लगता था। वास्तव में जो पुस्तक उसे मिल जाती थी वह वही पढ़ लेता था। समान विषय और समान पुस्तकों का अध्ययन करने वाले और

समानगति से चलने वाले विद्यार्थियों की संख्या बहुत ही अल्प थी। कभी-कभी तीन-तीन, चार-चार बालकों को टोलियाँ बन जातीं थीं और वे एक साथ पढ़ने लगते थे। लेकिन इसका कोई नियम न था। प्रारम्भिक शिक्षा के स्कूलों में पहाड़ों के पढ़ने के लिए तो एक "दरजा" था, इसमें प्रत्येक विद्यार्थी को अवश्यमेव आना ही पड़ता था। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों में तो जितने विद्यार्थी होते उतने ही दरजे भी हो जाते थे। ऊँची पढ़ाई के विद्यालयों में इस शैली से विद्यार्थी को बड़ा लाभ होता था, किन्तु प्रारम्भिक पढ़ाई के स्कूलों में तो समय और शक्ति दोनों का ही अपव्यय होता था।

अनुशासन—प्रारम्भिक स्कूलों और उच्च कोटि के विद्यालयों के विद्यार्थियों के अनुशासन में भी भारी अन्तर था। संस्कृत विद्यालयों में तो कदाचित ही कभी अशिष्टताके लिए किसी विद्यार्थी को सजा मिलती हो। हिन्दी पाठशाला के विद्यार्थियों में भी अपने गुरु के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा होती थी (जो अब भी चली जाती है)। उनके लिए अपने गुरु की उचित या अनुचित आज्ञा का पालन करना स्वाभाविक सी बात होती थी। प्रचलित प्रथा, विश्वास तथा दूसरों का उदाहरण गुरु के प्रति इस श्रद्धा को विद्यार्थी के स्वभाव का एक अङ्ग बना देते थे। इसका अनुमान नीचे लिखे श्लोक से होगा—

अखंडमंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः॥ इत्यादि—

'चराचरों में व्याप्त, अखंड मंडलाकार रूप परमात्मा के पदों का दर्शन जिसकी सहायता से हुआ है उस गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।'

'अज्ञानान्धकार में भी देखने के लिए जिन गुरु ने ज्ञान का अंजन मेरी आँखों में लगा दिया है मैं उनको नमन करता हूँ।'

'गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही शिव हैं, गुरु ही स्वयम् परमात्मा हैं। ऐसे गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ।'

जब इस प्रकार के विचारों को प्रत्येक विद्यार्थी के हृदय में अंकुरित कर दिया जाता है, तो फिर वह उसे सहज सत्य समझ कर उसका पालन अवश्य करेगा। इसके अलावा दूसरी बात यह भी है कि उसके इस आचरण पर प्रथा और प्रचलित आचार-विचार का भी बहुत ही अनुकूल प्रभाव पड़ता है। पाठशाला में पहुँच कर प्रत्येक विद्यार्थी गुरु का पदस्पर्श करता है या अपने गुरु के पदों में माथा टेकता है और फिर छुट्टी पाने पर भी इसी प्रकार गुरु के प्रति भक्ति प्रकट की जाती है। पाठशाला में पहले ही प्रवेश करते समय विद्यार्थी गुरु की पूजा करता है और प्रति वर्ष गुरुपूजा के दिन भी बड़े समारोह से गुरु की पूजा की जाती है। गुरु और राजा के दर्शन के लिए जाते समय कोई व्यक्ति, वह चाहे कितना ही ग़रीब क्यों न हो, कभी खाली हाथ नहीं जायगा।

फिर ये विद्यार्थी अपने बड़ों को भी तो ऐसा ही आचरण करते देखते हैं। प्रयाग में मेरे घर के ही समीप म्योर सेंट्रल

कालिज के संस्कृत के भूतपूर्व प्रोफ़ेसर पं० आदित्यराम भट्टाचार्य जी रहते थे। उन्होंने पं० मदन मोहन मालवीय जी को पढ़ाया था। जब कभी वे उनके पास आते थे तो बड़ी श्रद्धा के साथ उनके चरणों में माथा टेकते थे। देश के सर्वमान्य महापुरुषों को इस प्रकार आचरण करते देख कर हम बच्चों पर भी उसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ेगा ही! प्रत्येक विद्यार्थी के चित्त में यह बात पैदा हो जायगी कि गुरु की सेवा करना और उनकी आज्ञा में रहना बड़े सौभाग्य की बात है। वे कदापि कोई बात जानबूझ कर ऐसी न करते थे कि जिससे गुरु उनके प्रति रुष्ट हो जायँ। संस्कृत विद्यालयों में गुरु के प्रति विद्यार्थियों की इस श्रद्धा ने अनुशासन की अनेक समस्याओं को स्वतः सुलझा रक्खा था।

हिन्दी स्कूलों में भी संस्कृत पाठशालाओं की तरह बालकों में गुरु के प्रति श्रद्धा रखने की शिक्षा दी जाती थी; किन्तु यहाँ अनुशासन का काम प्रेम अथवा श्रद्धा की अपेक्षा ताड़ना से ही अधिक चलता था। बालकों की छोटी उम्र को देखते हुए पढ़ाई के घंटे अधिक थे, फिर पढ़ाई का क्रम और विषय भी ऐसा रखा था कि छोटे-छोटे बच्चों का मन सड़क, उद्यान और बाग़-बगीचों के लुभावने दृश्य की ओर अवश्य जाता था। ऐसी अवस्था में केवल श्रद्धा और आज्ञापालन के अतिरिक्त बालकों पर अनुशासन करने के लिए अधिक प्रभावशाली साधनों के उपयोग की आवश्यकता थी। वह समय भी ऐसा था जब सदियों के अत्याचार और पाशविक, निर्दय व्यवहार ने मनुष्य स्वभाव को

उसका आदी बना दिया था। उस समय यदि निर्दयता से बालकों को मारने पीटने वाले अध्यापक रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सन् १८५० में मि० रीड ने अपनी रिपोर्ट में पश्चिमोत्तर प्रान्त में तत्कालीन प्रचलित स्वयम् देखे हुए चार प्रकार के दण्डों का वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में उनके मत को हम यहाँ उद्धृत करते हैं। "ऊपर जिस दण्डविधान का वर्णन हुआ है, वह ऐसे दंड थे जो उस बालक को अपने साथियों की दृष्टि में हीन और हास्यास्पद बनाने को काफ़ी थे। ऐसे दण्ड प्रायः फारसी और हिन्दी स्कूलों में दिये जाते थे। लेकिन ये दण्ड-विधान इतने घृणित और इतने निष्ठुर थे कि कोई अध्यापक उन्हें प्रभावशाली घरानों के लड़कों पर प्रयुक्त करने का साहस नहीं कर सकता था। इस प्रकार ऐसे दण्ड के सर्वथा पाने योग्य बालक भी कभी कभी दण्ड से मुक्त हो जाते थे। यदि कोई बालक कभी अच्छी तरह से पीट दिया गया, तो उसके माता-पिता इसी बहाने उसे स्कूल से हटा लेते थे और साथ ही साथ स्कूल की "बक़ाया" फ़ीस भी जानबूझ कर देना भूल जाते थे। तात्पर्य यह कि इस प्रकार का दण्ड उद्दिष्ट फल को प्राप्त करने में असफल सिद्ध होता है। निर्दयता की मात्रा अधिक होने से यह दण्ड असह्य हो जाता है। साथ ही सब से अधिक नटखट बालक को भी दो-चार तमाँचे या बेतों से अधिक दण्ड देने की आवश्यकता नहीं है।"

यह बात स्मरण रखने की है कि कम से कम गाँवों में तो अवश्य ही माता-पिता स्कूल जाने या न जाने के लिए बालक को पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दे देते हैं। वे बालकों पर स्कूल जाने के लिए कोई दबाव नहीं डालते थे। ऐसी अवस्था में भारी दण्ड देना अध्यापक के लिए एक प्रकार से अपने ही हाथों अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना था। परिणामस्वरूप दण्ड-प्राप्त बालक ही नहीं, वरन् उसे देख कर अन्य बालक भी भय वश उसके पास नहीं जाते थे। तथापि यह बात माननी पड़ेगी कि कभी-कभी अध्यापक को शिक्षक की अपेक्षा सिंहपालक का वीभत्स रूप धारण करना पड़ता था और इसी प्रकार इसी प्रकृति के मातापिताओं का भी कभी-कभी सामना करना पड़ता था।

समालोचना—ऊपर पुरानी शैली के ऊँचे और प्रारम्भिक स्कूलों के पाठ्यक्रम, उद्देश्य तथा, उनमें प्रचलित जीवन का विवरण किया जा चुका है, परन्तु इतने दीर्घकाल के बाद, उनके सम्बन्ध में किसी बात का निर्णय करना कठिन है। उनके सम्बन्ध में जो सम्मतियाँ इस समय उपलब्ध हैं, वे अधूरी और पक्षपात-पूर्ण हैं। कुछ लोग यदि उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं तो कुछ लोग कड़ी निन्दा। डा० एफ० डब्लू० टामस के शब्दोंमें "शुरू शुरूमें आने वाले मिशनरी लोग तो हिन्दू देवताओं पर लाँछन लगाने में इतने अधिक व्यग्र थे कि उस समय की शिक्षा के सम्बन्ध में उनकी सम्मति अधिकतर अपूर्ण, एकरंगी और पक्षपातपूर्ण थी।" अङ्गरेज़ी के पक्षपाती और प्राच्यविद्या के

प्रशंसकों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। लार्ड वेन्टिङ्क जैसे व्यवहार-पटु गवर्नर के निर्णय के बाद ही बहुत दिनों तक ये दोनों दल यहाँ की परिस्थिति को ठीक-ठीक न समझ सके। लन्दन की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी के अवसर पर भारतीय विभाग में पुस्तकों और अन्य साधनों के सम्बन्ध में एडिनवरा के डाक्टर जार्ज स्मिथ ने १८७१ ई० में अपनी रिपोर्ट लिखी थी। उनका मत है कि देशी मदरसों और चट-शालों में पूर्वी देशों की विचार-पद्धति के अनुसार दर्शन-शास्त्र और भाषा-विज्ञान सम्बन्धी बहुत उच्च-कोटि का शिक्षा दी जाती थी, परन्तु उससे असत्य ज्ञान की ही नींव पड़ती थी। इस शिक्षा से मेधा-शक्ति प्रस्फुटित न होती थी और न विद्या-र्थियों के जीवन पर ही इस का कोई स्थायी प्रभाव पड़ता था। पहले की भाँति आज भी मिथ्या और कल्पित इतिहास, बनावटी विज्ञान तथा झूठे दर्शन-शास्त्र का ही प्रचार होता था।

इसके विपरीत डाक्टर लिटनर के विचार में अनेक भारतीय पण्डित और मौलवी जर्मन विश्वविद्यालयों तक की प्रतिष्ठा बढ़ाने योग्य थे। इन पुराने स्कूलों की प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणाली में किंडर गार्टन की पाठ-शैली का आभास मिलता है और यहाँ के उच्च कोटि के शिक्षण में आधुनिक शैलियों का दिग्दर्शन होता है। इन शिक्षालयों में प्राप्त होने वाली योग्यता की वे भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। विहार के एक प्रसिद्ध सिविलियन फ्रेडरिक पिनकाट ने भी इन पाठशालाओं की बड़ी प्रशंसा की है।

इन सब आलोचनाओं में कुछ न कुछ सार अवश्य है। भारतवर्ष में अँगरेज़ों के प्रवेश-काल की शिक्षा प्रणाली की इस गिरी हुई अवस्था को यदि इस दृष्टि से देखा जाय कि यहाँ की जनता का जीवन शताब्दियों से अशान्ति में गुज़रा था, और फिर भी वह अपनी श्रद्धा और परम्परा से प्रेरित हो कर थोड़ा-बहुत विद्याभ्यास कर लेती थी, तब अवश्य ही इस ओर हमारी सहानुभूति होगी। एक तरफ़ संस्कृत पाठशालाओं और मदरसों की शिक्षा बिल्कुल पारमार्थिक उद्देश से दी जाती थी, तो दूसरी तरफ़ प्रारम्भिक पाठशालाओं की शिक्षा का उद्देश बिलकुल सांसारिक था। एक ओर तो सांसारिकता के नाम-मात्र से घृणा थी, यहाँ तक कि जनता की व्यवहार की भाषा तक का निषेध था, तो दूसरी ओर हिन्दी-उर्दू के प्रारम्भिक स्कूलों में ठीक इसके विपरीत व्यावहारिकता का ही बोल-बाला था। जिस समाज में मध्य स्थिति के लोग का अभाव होता है वहाँ मध्य-मार्ग का अनुसरण करना कठिन हो जाता है। जहाँ तक वस्तुतः शिक्षा-दीक्षा का सम्बन्ध था, वहाँ तक उच्चकोटि के स्कूलों की पढ़ाई सफल कही जा सकती है।

मिस्टर एफ० डब्ल्यू टामस ने भारत में अङ्गरेज़ी शिक्षा का इतिहास और उसकी उपयोगिता नामी पुस्तक में लिखा है कि यहाँ के प्राचीन पण्डित युरोप के पूर्वकालीन नवयुग के विद्वानों से किसी तरह भी कम न थे। वे बनावट व पाखण्ड को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे और हमेशा हर बात की तह तक पहुँच कर

ही सन्तुष्ट होते थे। इनकी ज्ञान-पिपासा बड़ी प्रबल थी। अनेक टीकाएँ रट कर याद कर ली जाती थीं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रश्नों के विवेचन में कई-कई दिन तक वाद-विवाद होता रहता था। पक्ष-विपक्ष के समर्थन में गूढ़ से गूढ़ भाषा प्रयोग का साधन बनती थी और जब किसी प्रश्न की पुष्टि में भाषा-विज्ञान की समस्त युक्तियाँ लगा कर एक दिन विद्यार्थियों का सन्तोष कर दिया जाता, तब दूसरे दिन गुरु जी कहते, 'तत् असत्' अर्थात् यह तर्क असङ्गत है। फिर वे अपने पक्ष के समर्थन में विद्यार्थियों द्वारा दिये हुए प्रमाणों का खण्डन उपस्थित करते। इन सब बातों में कितने समय का दुरुपयोग होता था, इसका तो किसी को विचार भी न था। लेकिन किसी भी विषय के समर्थन या उसके खंडन में जो प्रमाण उपस्थित किये जाते थे, वे एक ही तरह के होते थे, क्योंकि वास्तविकता की अनुपस्थिति में उनमें कोई नवीनता आना असम्भव था।

पंडित अम्बिकादत्त व्यास रचित 'पढ़े पढ़े पत्थर' नाम के प्रहसन में इन शास्त्रार्थों की अव्यावहारिकता का प्रदर्शन खूब अच्छी तरह किया गया है। इनके तर्क में बाल की खाल निकालने का उपहास्य प्रयत्न साफ़ नजर आता है। इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इन विद्यार्थियों को व्याकरण, चिकित्सा शास्त्र, तर्कशास्त्र, कर्म-कांड, काव्य, पुराण, शास्त्र, और कुरान इत्यादि का अच्छा ज्ञान होता था। यह सत्य है कि विवेचनात्मक शैली से इन विषयों का अध्ययन न होता था और इनके अध्यापकों को

वास्तविक ज्ञान की अपेक्षा इन विषयों का किताबी ज्ञान अधिक था। लेकिन जब हम यह देखते हैं कि युरोप में भी नवीन शैली के अनुसार अध्ययन करने की परिपाटी थोड़े ही समय से चली है, तो फिर भारतवर्ष में इस शैली के प्रचार का न होना कोई आक्षेप या आश्चर्य की बात नहीं मालूम पड़ती। प्रारम्भिक स्कूलों में पढ़ाने लिखाने और हिसाब सिखाने का बड़ा उत्तम प्रबन्ध था। ज़बानी हिसाब में लड़के इतने दक्ष हो जाते थे कि आधुनिक शैली पर चलने वाले स्कूलों के लड़के, उनसे बढ़ कर निकलने की बात तो दूर रही, उनकी बराबरी भी नहीं कर सकते। पिनकाट साहब के कथनानुसार लड़कों को इन स्कूलों में विषयों का ज्ञान ऐसी पद्धति से कराया जाता था जो उनके लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध होती थी। इन छोटे स्कूलों में, वे लिखते हैं, ज़बानी हिसाब का अभ्यास इतना अधिक करा दिया जाता है कि उसे देख कर बड़ा आश्चर्य होता है। लन्दन के क्लर्क यदि इन अर्द्धनंगे बालकों को १०० तक पहाड़ों के गुणा का प्रयोग ज़बानी करते देखें तो उनके आश्चर्य की सीमा न रहे। कुछ लड़के तो हिसाब-किताब में इतने तेज़ और सिद्ध-हस्त हैं कि ज़बानी ही अनेक प्रकार के प्रश्न हल कर लेते हैं। उन्हें देख कर केवल कागज-पेन्सिल से ही हिसाब हल करने वालों को अवाक् रह जाना पड़ता है।

बही खाता, लेन-देन, ब्याज-बट्टा आदि की पेचीदा बातें ऐसी योग्यता और बारीकी से सिखायी जाती थीं कि उसे देख कर

हम उनकी प्रशंसा किये विना नहीं रह सकते। यद्यपि उन दिनों लिखने की सामग्री आजकल जैसी सुलभ नहीं थी और न इतनी प्रचुरता में ही मिल सकती थी, फिर भी सुलेख लिखने का इतना अच्छा अभ्यास करा दिया जाता था कि उसकी बराबरी सभी साधन-युक्त आधुनिक स्कूल भी नहीं कर पाते। किसी भी मामूली पुरानी हस्त-लिपि या वही खाते को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार इन पुरानी परिपाटी के स्कूलों में साधारण गणित और लिखने का अभ्यास तो पूरी तौर से करा दिया जाता था और यदि पढ़ने का अभ्यास त्रुटिपूर्ण था तो उसका कारण यही था कि छापेखानों के न रहने से उस युग में पढ़ने की सामग्री मिलने में बड़ी कठिनाइयाँ थीं। इन कठिनाइयों को देखते हुए उन दिनों की पढ़ाई का अभ्यास भी इतना बुरा नहीं कहा जा सकता।

पुरानी पद्धति के स्कूलों में पढ़ाई चाहे कैसी भी रही हो पन्रतु विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण पर इसका बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता था। इनमें से साँचे के ढले जैसे विद्यार्थी निकलते थे। बड़ों के प्रति श्रद्धा, विद्या-व्यसन, विनय, त्याग और धर्म में प्रवृत्ति—यही इन स्कूलों में पढ़े विद्यार्थियों के स्पष्ट लक्षण थे। अध्यापक और विद्यार्थी में पिता-पुत्रवत् स्नेह रहता था। गुरु ही उनके लिए नियम-निर्माता, गुरु ही उनका संरक्षक, गुरु ही उनके लिए तत्वदर्शी तथा गुरु ही उनका शुभचिन्तक और मित्र होता था। अपने गुरु के प्रति भक्ति और शास्त्र के प्रति श्रद्धा

प्रकट करके गुरु ही स्वयम् विद्यार्थियों के समक्ष आचरण का आदर्श रखता था।

पिनकाट साहब के विचार में ये स्कूल बालकों को साक्षर भी बनाते थे और साथ ही अपने हृदय और मस्तिष्क पर अनुशासन करना भी सिखाते थे। उनमें ईश्वर के प्रति भक्ति, गुरु एवम् शास्त्र में श्रद्धा तथा विद्याभ्यास में प्रेम पैदा करते थे। गुरु-सेवा को सम्मानास्पद बतला कर अपने हाथों अपना काम करने में प्रतिष्ठा का समर्थन करना सिखलाते थे। केवल विद्या-प्राप्ति के लिए ही अध्ययन करने का उस समय कितना अधिक प्रचार था, इसके लिए आज भी अगणित पण्डितों के जीवन इसकी साक्षी देते हैं। इन पुराने स्कूलों, विशेषतः संस्कृत पाठशालाओं, से निकले हुए विद्यार्थियों में विनय का भाव बहुत अधिक पाया जाता है। "विद्या ददाति विनयम्"—विद्या विनय पैदा करती है और जिस प्रकार फलों से लदे हुए वृक्ष उनके भार से झुक जाते हैं, उसी प्रकार विद्या प्राप्त करके विद्वान भी विनीत हो जाते हैं।

इन स्कूलों में पढ़े हुए लोगों के चरित्र के इस पहलू का उल्लेख एडम साहब ने भी किया है। वे लिखते हैं कि वे लोग अधिकतर चतुर, विवेकशील और क्षमाशील होते हैं। उनका यह विनीत भाव किसी अफ़सर के समक्ष दीनता प्रदर्शित करने के लिए नहीं होता, वरन् अपने समकक्ष लोगों के प्रति भी उनका स्वभाव सदा विनम्र रहता है। मैं ने कई बड़े से बड़े विद्वानों को अपनी विद्वत्ता और विद्यानुराग का बड़े ही सरल और विनीत

शब्दों में परिचय देते, अपने सामने उपस्थित किसी अपरिचित ग्रामीण पण्डित की प्रशंसा करते, किसी नगर निवासी, परन्तु अनुपस्थित पण्डित के पाण्डित्य की बड़ी प्रतिष्ठा करते तथा किसी दूसरे नगर के रहने वाले वृद्ध और पद-त्यागी पण्डित की भूरि-भूरि प्रशंसा करते सुना है, यद्यपि इन लोगों की उपस्थिति में वे उन की विद्वत्ता के सम्बन्ध में मौन रहना ही पसन्द करते।

वेदान्तदेशिक स्वामी के एक प्रतिद्वन्द्वी ने स्वामी जी के साथ प्रतियोगिता की थी। इन दोनों में योग्यता का प्रमाण थोड़े से श्लोकों की रचना ठहरायी गयी थी। परन्तु जब नियत समय में स्वामी जी द्वारा बनाये श्लोकों की संख्या के आधे श्लोक भी वह न बना सका, तो उसके पराजित और तिरस्कृत होने पर भी स्वामी जी ने कहा, 'शूकरी एक साथ छै बच्चे पैदा करके भी हथिनी के एक बच्चे की बराबरी नहीं कर सकती, क्योंकि वह हस्ति-शावक राजा की सवारी के काम में आकर सम्मानास्पद बनता है।' उपरोक्त उदाहरण इन लोगों की विनय-भावना का बड़ा स्पष्ट परिचायक है।

विद्यानुराग को ये लोग धर्म का मूलमन्त्र मानते थे, क्योंकि उनके धर्म के अनुसार आत्म-शुद्धि का यही एकमात्र साधन था। इसी कारण उनके लिए विद्याध्ययन अनिवार्य था। आज भी बहुत से पंडित और विद्यार्थी बनारस तथा अन्य स्थानों में सदा ग़रीबी में रह कर ज्ञान-सम्पादन के लिए संस्कृत एवम् अन्य प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। यद्यपि आर्थिक दृष्टि

से इस शिक्षा का कोई मूल्य नहीं रहा है, परन्तु उनको विश्वास है कि ऐसी शिक्षा प्राप्त करना उनका परम धर्म है। वास्तव में संस्कृत पढ़ने वाले विद्यार्थियों का जीवन ऐसी कठिनाई और ग़रीबी में गुज़रता है कि अगर इस शिक्षा का ऐसा सतोगुणी और धर्मनिष्ठ प्रभाव न होता तो उनकी अवस्था बड़ी शोचनीय हो जाती। इस प्रकार सांसारिक जीवन के प्रति इनमें एक प्रकार का विराग उत्पन्न हो जाता था। जीवन की सादगी और विचारों की उच्चता का सिद्धान्त न केवल आदर्श ही माना जाता था, वरन् वह उन लोगों के आचरण से भी प्रत्यक्ष था। शौक़ीनी की तो बात ही दूर रही, साधारण सुख की बातें भी उनके मत से असंगत थीं, जैसा कि नीचे के श्लोक से विदित होता है :—

सुखार्थिनो कुतो विद्या,
कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ?

'सुख की कामना करने वाले के लिए विद्या कहाँ है और विद्या की कामना करने वाले लिए सुख कहाँ है ?' इस प्रकार परम्परा और शास्त्रों की अनुमति द्वारा ये बातें उनके स्वभाव का अंश ही नहीं बन जाती थीं, बल्कि उनकी प्रकृति सी दृढ़ हो जाती थीं।

एडम साहब ने उनके इस प्रकार के जीवन का विशद वर्णन किया है। वे लिखते हैं, "मैंने इन लोगों को विद्या प्राप्त कर लेने पर केवल निरभिमान ही नहीं देखा, बल्कि आचार-व्यवहार में भी अत्यन्त सरल पाया है। उनका व्यवहार शायद ही

कभी इतना भद्दा होता हो कि उस पर लोगों को क्रोध आ जाय। उन्हें देखकर इङ्गलैण्ड और स्कॉटलैण्ड के सरल-स्वभाव कृषकों की याद आ जाती है। ये लोग हमेशा अर्द्धनग्न अवस्था में रह कर भूतकालीन असभ्य या अर्द्धसभ्य जीवन का अनुभव करते रहते हैं। वे लोग ऐसी झोपड़ियों में रहते हैं कि यदि उनके नैतिक जीवन का अनुमान हम उनकी शारीरिक परिस्थिति के प्रभाव से लगायें तो स्वभावतः यही प्रतीत होगा कि ऐसे स्थानों में रहने वालों का या तो ज्ञान-विकास अपूर्ण ही हुआ होगा या बहुत ही संकुचित और विरूप। किन्तु वास्तव में इनमें से कितने ही व्यक्ति संसार की परमोत्कृष्ट दार्शनिक भाषा के व्याकरण की बारीकियों के जानकार हुए हैं, जो न केवल उस भाषा की विभिन्न शैलियों के उपयोगों को ही भली भाँति जानते थे, बल्कि उसकी रचना शैली और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों के भी पूरे जानकार रहे हैं; जो राष्ट्रीय क़ानून और साहित्य के विभिन्न अंगों के ज्ञाता और उनके व्यावहारिक स्वरूप से पूर्णतः परिचित रहे हैं तथा दर्शन शास्त्र और तर्क शास्त्र के गूढ़तम तथ्यों पर बड़ी तत्परता से शास्त्रार्थ करते रहे हैं।" ग्राम की छोटी सी पाठशाला भी अपने विद्यार्थियों में इन्हीं गुणों का समावेश कराने के लिए थी। लेकिन ज्ञान द्वारा उनकी बुद्धि इतनी परिमार्जित न होने के कारण उनमें प्रायः यही गुण दासता का लक्षण मान लिये जाते थे।

यद्यपि यह बात समझने में असंगत प्रतीत होगी, तथापि मेरे विचार में ये उपर्युक्त गुण ही उनके दोष थे। किसी विद्वान

ने गुणों का अतिरेक ही दोष की परिभाषा मानी है। प्रारम्भिक पाठशालाओं में इन बातों की शिक्षा सीमा से अधिक दी जाती थी। यदि यही उचित मात्रा में दी जाती तो इसमें गुण ही गुण बने रहते। बालकों में बड़ों के प्रति नम्रता का भाव इतना अधिक भर दिया जाता था कि वे स्वतन्त्र रूप से विवेकपूर्ण व्यवहार ही नहीं कर सकते थे। उनमें स्वतन्त्र रूप से स्वयम् कार्य करने या किसी विषय पर विचार करने की शक्ति बिलकुल ही दबा दी जाती थी।

बहुत से लोग कुछ विषयों में एक नियमित सीमा तक इस प्रकार की शास्त्र-विहित शिक्षा देना तथा किसी नियमित और शृंखलाबद्ध विचार-प्रणाली के प्रतिपादन में रटाई का अभ्यास कराना इसलिए उपयोगी समझते हैं कि इनसे विचार-प्रणाली में परिशुद्धि और यथार्थता आ जाती है। लेकिन इन सब बातों को केवल प्रगतिशील साधन ही समझना चाहिए, न कि ऐसी पत्थर की लकीर जिसके आगे किसी प्रकार का स्वतन्त्र तर्क व्यर्थ ही नहीं, बल्कि पापमूलक समझा जाय। इसके अतिरिक्त उस समय के पण्डितों का यह स्वभाव हो गया था कि जिन विचारों का वे प्रतिपादन करते थे, उनसे उस विषय की इतिश्री हो जाती थी और उनके शिष्य इसके अतिरिक्त और कुछ करने के अधिकारी न थे कि वे उन्हें सत्य मान कर श्रद्धा से उन पर विश्वास करें और उनके अनुसार अपना आचरण बनावें।

इन पण्डितों के विषय में यह अवश्य कहना पड़ेगा कि वे अपने विद्यार्थियों के सामने उन शास्त्रों का भी वैसी ही योग्यता

से प्रतिपादन करते थे जो उनके विरुद्ध पड़ते थे, परन्तु साथ ही साथ इन विचारों को शास्त्रों के प्रतिकूल कहने और उनके विरुद्ध पक्षपात स्थापित कर देने में वे अपने व्यक्तिगत प्रभाव का पूरा-पूरा उपयोग करते थे। इस विषय में ये अध्यापक अपनी श्रद्धा और विश्वास के अनुसार अवश्य ठीक समझे जायँ, परन्तु सच तो यह है कि उनके दुराग्रहपूर्ण प्रतिपादन से उनके विद्यार्थी पुरानी रूढ़ियों में जकड़ कर लकीर के फ़कीर बन जाते थे और उनमें यह अटल विश्वास हो जाता था कि प्राचीन काल की सभी बातें सर्वोत्तम और सर्व श्रेष्ठ होती थीं, जिनका अतिक्रमण असम्भव था। इस प्रकार उनमें किसी प्रकार का अनुसन्धान करने की प्रेरणा तथा शक्ति का सर्वथा नाश हो जाता था।

विनयी भाव को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता था कि विद्यार्थियों में किसी विषय पर असम्मति प्रकाश करने या किसी के मत का विरोध करने की क्षमता का बिलकुल नाश हो जाता था। विनय अवश्य ही विद्वानों में सद्गुण है, परन्तु मूर्ख और अज्ञानियों के लिए तो यह अपनी मूर्खता ही नहीं, बल्कि अपने दोष छिपाने का भी बड़ा अच्छा आवरण हो गया था। इसके अतिरिक्त विद्यार्थियों में उदासीनता या विरक्तता का भाव उत्पन्न हो जाने से उनमें से सर्वोत्तम विद्यार्थी आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य एहलौकिक उद्योगों के केन्द्र से बाहर हो जाते थे और इस प्रकार यह प्रवृत्ति हमारी भौतिक उन्नति को उनकी दृष्टि में हीन ही नहीं बना देती थी, बल्कि उनके मार्ग में बाधक भी

हो जाती थी। इन पाठशालाओं में पारमार्थिक विषयों और पारलौकिक गुणों की श्रेष्ठता का इतना अधिक प्रतिपादन किया जाता था कि मानव जीवन का वास्तविक स्वरूप और उसकी शारीरिक आवश्यकताओं और आकांक्षाओं का बिल्कुल ध्यान न रक्खा जाता था। तात्पर्य यह है कि इस शिक्षा का श्रीगणेश इन्द्रिय-दमन और आत्मनिग्रह से होता था और वहीं इसका अन्त भी। इस प्रकार हमारे देश में शिक्षा का यह एक ऐसा अनोखा क्रम था जो हमारे मन को सदा भूतकाल की ओर खींचता रहता था और जिसका लक्ष्य कोई उज्ज्वल भविष्य न हो कर भूतकाल का अदृश धुँधला प्रकाश था जिसका नतीजा यह हुआ कि न केवल हमारे विद्यार्थियों की, बल्कि सारी जनता की दृष्टि सदा के लिए पृष्ठपेक्षी हो गयी।

यह तो विचार हुआ राष्ट्रीय दृष्टि से। यद्यपि उपरोक्त कारणों से अनेक हानियाँ होती थीं, तो भी व्यक्तिगत हित की दृष्टि से इस प्रणाली से, अधिक पढ़े-लिखे लोगों को मानसिक आनन्द और भौतिक सन्तोष मिलता था। इससे उनका जीवन प्रतिभाशाली, सुखी और आनन्दमय हो जाता था। जो लोग केवल साक्षर थे, उनका भी जीवन इसी प्रकार सुख-सन्तोषमय बन जाता था। लेकिन इस शिक्षा प्रणाली में सब से बड़ी बात यह थी कि लोगों में ईश्वर के प्रति अटूट भक्ति उत्पन्न हो जाती थी जिससे उनका जीवन धर्ममय और सदाचारमय बना रहता था। उनमें लोभादि दोषों का दमन करने की ऐसी विचित्र शक्ति उत्पन्न हो जाती थी कि उनका जीवन पुण्यमय बीतता था।

तीसरा अध्याय

प्रारम्भिक उद्योग

प्रान्तीय भाषा की महत्ता

कलकत्ते से अपना प्रान्त इतना दूर होने के कारण सन् १८३५ ई० के शिक्षा-सम्बन्धी बहसों की चहल-पहल यहाँ तक नहीं पहुँच पायी थी। सन् १८४० में प्रान्तीय शिक्षा के संचालन का दायित्व बंगाल सरकार से निकल कर पश्चिमोत्तरी प्रान्त (यू० पी०) की सरकार के आधीन हो गया था। १८४३ ई० में प्रान्तीय लाट सर जी० आर० क्लार्क ने अपना यह मत व्यक्त किया था कि बंगाल की अवस्था चाहे कैसी भी क्यों न हो, पश्चिमोत्तरी प्रान्त के लिए तो यह बात निश्चित थी कि यहाँ अँग्रेजी के प्रचार की विशेष आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इस प्रान्त में अंग्रेजी भाषा सीखने के लिए कोई प्रलोभन ही न था। यहाँ न तो युरोपियन को ही ऐसी अधिक बस्ती थी, न धनी व्यापारी समुदाय का अँग्रेजी में कोई कारबार ही होता था। न यहाँ अँग्रेज वकील थे, और न अँग्रेजों के समुद्री व्यापार का यहाँ कोई केन्द्र था। जिन सरकारी नौकरियों में थोड़ी बहुत अँग्रेजी की जानकारी की आवश्यकता

पड़ती थी, वे बहुत अल्प संख्या में थीं। इसके साथ-साथ दूसरी कठिनाई यह भी थी कि यहाँ के बालक दीर्घ काल तक स्कूल में पढ़ने का अवकाश भी नहीं पाते थे और अँगरेज़ी के लिए समय अधिक आपेक्षित था। इन्हीं सब कारणों से सरकार ने निश्चय किया कि देश के इस भाग में जनसाधारण के मस्तिष्क पर किसी प्रकार का चमत्कारिक प्रभाव डालने के लिए शिक्षा-प्रचार का प्रयत्न केवल उनकी मातृभाषा के माध्यम द्वारा होना चाहिए, किसी विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा यह सम्भव नहीं। इस मन्तव्य ने यह सिद्ध कर दिया कि हमारी प्रान्तीय सरकार को कुछ लोगों को ऊँची शिक्षा देकर उनके द्वारा विद्याप्रसार के सिद्धान्त पर विश्वास न था। अतः कुछ थोड़े से उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीयों द्वारा साधारण जन समुदाय में शिक्षा-प्रचार करने की अपेक्षा, सरकार ने जनसाधारण में सीधी रीति से शिक्षा-प्रचार करने का कार्य अपने हाथ में ले लिया।

इस ध्येय को लक्ष्य में रख कर तत्कालीन स्कूलों का नाम दर्ज करके, उनके विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए उनकी जाँच करके, अच्छे काम पर पारितोषिक देने का प्रस्ताव किया गया। ग्राम्य स्कूलों की उन्नति के लिए निरीक्षण द्वारा परामर्ष देने तथा आवश्यक पाठ्य-पुस्तकों का वितरण करके उन्हें प्रोत्साहन देने का भी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इसी उद्देश को सामने रख कर सन् १८४४ ई० में पाठ्य-पुस्तकों के नियन्त्रण, वितरण और निरीक्षण आदि के लिए एक क्यूरेटर की नियुक्ति की गयी।

ज़िले के कलेक्टरों और तहसीलदारों को आदेश किया गया कि वे इन पुस्तकों के वितरण-कार्य में आवश्यक सहयोग और सहायता प्रदान करें।

सर जार्ज क्लाक के अवकाश ग्रहण करने पर मि० जे० टॉमसन की नियुक्ति हुई। आपके पिता ने जन साधारण में शिक्षा-प्रचार की एक योजना लार्ड मॉयरा के सामने प्रस्तुत की थी, किन्तु वह स्वीकृत न हो सकी। टॉमसन साहब असाधारण कोटि के योग्य, अत्यन्त उदार और प्रतिभाशील व्यक्ति थे। उनके शासन-काल में हमारी प्रान्तीय सरकार नियमित रूप से जन-साधारण में शिक्षा प्रचार के कार्य में आवश्यक अभिरुचि प्रदर्शित करने लगी थी।

ज़मीन के बन्दोबस्त का शिक्षा-प्रसार से सम्बन्ध

सरकार में जनता को शिक्षा देने का विचार किसानों के स्वत्वों की रक्षा करने के अभिप्राय से उत्पन्न हुआ था। नये बन्दोबस्त के बाद सरकार को विदित हुआ कि हमारे प्रान्त की भूमि बहुत छोटे-छोटे विभागों में विभक्त है। हमारे बटवारे की भूमि पर और लोगों के अधिकारों की समस्या भी अत्यन्त जटिल है। सरकार ने इन अधिकारों की रक्षा करने के निमित्त उनको स्पष्ट करके, उनका वर्गीकरण किया और उनकी रजिस्ट्री करने के लिए एक योजना तैयार की। इस बन्दोबस्त के समय में प्रान्त का एक-एक खेत नापा गया और उसका नक़शा इस तरह पर बनाया गया कि उसमें प्रत्येक खेत के अधिकारी का हवाला

था। पटवारी के जिन खातों में इन अधिकारियों का उल्लेख था, वे एक ही प्रणाली का आश्रय लेकर बनाये गये थे और भूमि सम्बन्धी समस्त अधिकारों का नियमानुसार निर्णय करने में इन्हीं को मूल प्रमाण माना गया था।

इस प्रणाली की सफलता और भूमि पर ही जीविका-निर्वाह करने वालों के स्वत्वों की रक्षा के विचार से यह परमावश्यक था कि जनसाधारण अपने-अपने अधिकारों को भली भाँति समझ ले और पटवारी के रजिस्टर में दिये गये लेखों की यथार्थता की जाँच कर ले। इसके लिए यह आवश्यक था कि वे कुछ पढ़-लिख सकते हों तथा उनको पैमाइश और हिसाब के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी हो। लेकिन ये सब बातें गाँव के जन-साधारण में कहाँ थी? वे तो इस विषय में बिलकुल अन्धकार में थे।

मुग़ल साम्राज्य के पतन के बाद जनसाधारण की साधारण शिक्षा में जो शिथिलता आ गयी थी, वह ब्रिटिश शासन काल में भी तद्वत् बनी थी। इस शिथिलता का ज्ञान सरकार को भी था, किन्तु इसका विस्तार, इसका प्रभाव, और उसके गुण-अवगुण पर विचार नहीं किया गया था।

शिक्षा-प्रसार के विस्तार की जाँच

मि० टॉमसन ने प्रत्येक कलक्टर को अपने-अपने ग्रामों में शिक्षा-प्रसार की अवस्था सम्बन्धी एक-एक रिपोर्ट भेजने का आदेश भेजा। स्कूल, उसके विद्यार्थी तथा शिक्षकों के सम्बन्ध में पूरी-पूरी जानकारी एकत्र करने की ताकीद की गयी थी। इस

आदेश-पत्र में सरकार ने कलक्टरों को जनसाधारण में शिक्षा-प्रचार के लिए राज्य-व्यवस्था की दृष्टि से प्रोत्साहन देने की प्रेरणा की थी। इस में यह उल्लेख किया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति में पढ़ने-लिखने, तथा छोटा-मोटा हिसाब लगा लेने के लिए इतना ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा तो होनी ही चाहिए कि जिससे वह अपने अधिकारों की रक्षा कर सके। जब तक जनसाधारण भली-भाँति शिक्षित न हो जायँ, तब तक लगान सम्बन्धी काग़ज़ों के तैयार करने में अधिक शुद्धता की आशा रखना व्यर्थ है। परन्तु साथ ही साथ इस शिक्षा द्वारा उनके सांस्कृतिक ज्ञान पर कितना लाभदायक प्रभाव पड़ेगा, इसके भी सब्ज़ बाग़ दिखाये गये थे। यह भी आशा प्रकट की गयी थी कि जिस समय लोगों में विद्या का महत्व समझने की सामर्थ्य पैदा हो जायगी, उस समय यह सम्भव हो सकता है कि इस जनसमुदाय में से अनेक व्यक्ति अपनी उन्नति कर लें और साहित्यिक क्षेत्र में इसलिए प्रवेश करें कि उसके द्वारा उन्हें बड़ी से बड़ी पदवी, सम्मान तथा प्रतिष्ठा का लाभ हो; अथवा उसके अध्ययन द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्द की प्राप्ति हो।

इससे प्रकट है कि इस समय सरकार कितने ऊँचे ध्येय को अपने समक्ष रखे हुए थी। उसने शिक्षा-प्रसार के न केवल व्यावहारिक, प्रत्युत सांस्कृतिक लाभ को भी समझ लिया था। जो जनता शताब्दियों से दलित होने के कारण हतोत्साह होकर अपने भाग्य पर निर्भर रहने लगी थी, उसको उस समय एक

ऐसी उत्कर्ष-प्रदायिनी शक्ति की आवश्यकता थी जो उसको अपने स्वत्त्वों का ज्ञान करा देती। सरकार को यह पूर्ण रूप से विदित न था कि यहाँ की जनता इतनी अशिक्षित और हतोत्साह हो गयी है कि वह अपने स्वत्त्वों की रक्षा करने के लिए लिखने-पढ़ने की साधारण शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी तैयार न होगी। परन्तु सरकार का यह विचार ठीक था कि इस प्रकार की जनता के पुनरुद्धार के लिए शिक्षा-प्रसार ही एकमात्र साधन था।

देशी पाठशालाओं की उपयोगिता का महत्त्व

अँग्रेजों के जातीय स्वभाव में क्रान्तिकारी परिवर्तनों पर विश्वास न करने का भाव निहित है। इनकी सदा यह चेष्टा रहती है कि किसी कार्य की अविच्छिन्न गति में बाधा न पड़े, बनी-बनायी संस्थाओं की उन्नति सुधार द्वारा होती जाय और उनसे, जितना भी सम्भव हो, लाभ प्राप्त कर लिया जाय। अस्तु, इसी उद्देश से प्रेरित होकर इस आदेश-पत्र में इसकी भी चर्चा की गयी थी कि तद्धित ध्येय की प्राप्ति के लिए शिक्षा-प्रसार द्वारा क्या-क्या साधन उपस्थित हो सकते थे। इसमें लिखा था, "देश भर में फैली हुई पुरानी पद्धति की पाठशालाएँ ही हमारे ध्येय की प्राप्ति में साधक बन सकती हैं। यह सम्भव है कि इस समय ऐसी पाठशालाओं की संख्या अधिक नहीं है और उनमें दी जाने वाली शिक्षा भी बहुत साधारण और असंस्कृत है, परन्तु उनकी संख्या बढ़ायी जा सकती है और उनकी शिक्षा-पद्धति में भी उन्नति की जा सकती है।"

इस प्रकार प्रारम्भ में सरकार की शिक्षा-प्रचार की नीति यह थी कि उस समय की पाठशालाओं की स्थिति का सुधार हो और उनकी शिक्षा-प्रणाली की उन्नति की जाय। सरकार का यह विश्वास था कि जनसाधारण की शिक्षा के सम्बन्ध में हमारे प्रान्त की पाठशालाएँ बड़ी ज़बर्दस्त सम्भावनाओं से परिपूर्ण हैं और हमारे यहाँ की सशंकित और रूढ़िग्रस्त जनता में शिक्षा-प्रचार के लिए नयी-नयी पाठशालाएँ खोलने की अपेक्षा देसी पाठशालाओं ही में आवश्यक सुधार करके तथा उनकी संख्या बढ़ा कर, उन्हीं के द्वारा शिक्षा-प्रसार करना अधिक सुविधा-जनक, विवेकपूर्ण और मितव्ययता का काम होगा।

प्रजा के उपक्रम का प्रोत्साहन

इस आदेश-पत्र की एक और महत्त्वपूर्ण और उपयोगी नीति यह थी कि लोगों पर शिक्षा का भार न लाद दिया जाय और न सरकारी कर्मचारियों द्वारा ही उसका प्रचार किया जाय। भले ही सरकार बड़ा ज़बर्दस्त प्रोत्साहन देकर जनसाधारण में शिक्षा के महत्त्व को समझने का ज्ञान पैदा करे, परन्तु प्रत्येक अवस्था में कार्य जनसाधारण की ओर से ही आरम्भ होना चाहिए। साथ ही साथ यह प्रवृत्ति एकपक्षीय भी न होनी चाहिए और जनसाधारण को इसके खर्चे में ही नहीं, बल्कि इसके प्रति अनुराग प्रकट करने और इसके प्रतिपादन की संलग्नता में भी भाग लेना चाहिए। हमारे देश में शिक्षा-

प्रचार की उन्नति उसी समय सम्भव है, जब सरकार को जन-साधारण का सहयोग प्राप्त हो। इसीलिए इस सर्क्युलर का यह मन्तव्य ठीक ही था कि इन सब और अन्य चेष्टाओं में यह नितान्त आवश्यक है कि सरकार को जनसाधारण का सहयोग प्राप्त हो और उसकी यह नीति रहे कि वह उनकी सुचेष्टाओं में उनकी सहायता करे, न कि सरकार अपनी सारी शक्ति लगा कर जनसाधारण की चेष्टा की प्रवृत्ति को ही मन्द कर दे। इस प्रकार के विवेकपूर्ण प्रोत्साहन से ग्रामीण पाठशालाओं की उन्नति में ही सहायता न मिलेगी, बल्कि शिक्षा-प्रचार के लिए ऐसे मनुष्यों का सहयोग प्राप्त हो जायगा, जिनको जनसाधारण अपना शिक्षक और सहायक मान लेने को प्रस्तुत है। इस सर्क्युलर में यह भी आशा प्रकट की गयी थी कि शीघ्र ही गाँव का अध्यापक जनता के ऐसे प्रतिष्ठित और सार्वजनिक सेवक का स्थान प्राप्त कर लेगा जिसका पारिश्रमिक गाँव की आय पर एक नियमित और अधिकृत व्यय माना जायगा।

१८४५ ई० की शिक्षा सम्बन्धी अवस्था

इस आदेशपत्र में जिले के अधिकारियों को शिक्षा-प्रसार में प्रोत्साहन प्रदान करने का परामर्श दिया गया था, परन्तु उसका मुख्य उद्देश दूसरा था। सरकार शिक्षा सम्बन्धी सारी बातों की जानकारी प्राप्त करना चाहती थी, जिससे वह नवीन शिक्षा-प्रचार की योजना तैयार कर सके। यह जाँच ३१ जिलों में की

गयी थी। इनमें से ५ ज़िले अब पञ्जाब प्रान्त में सम्मिलित हैं। अवध उस समय तक इस प्रान्त की अमलदारी में सम्मिलित नहीं हुआ था। अँग्रेज़ी और मिशन स्कूलों को छोड़ कर सारे प्रान्त में—नगर और गाँव के—हर प्रकार के स्कूलों की संख्या केवल ७२६६ थी। शिक्षा ग्रहण करने योग्य अवस्था के बालकों की संख्या १,९३३,१३८ थी। इनमें से केवल ७०,८२६ अथवा ३·७ प्रति शत बालक ही उस समय शिक्षा ग्रहण कर रहे थे।

यह औसत इतना कम होने पर भी, शिक्षा के अभाव का सच्चा निर्देशक न था। हाँ, इससे शिक्षा की गिरी हुई दशा का कुछ आभास अवश्य मिलता था। ज़मीन्दार जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति भी अपनी सन्तान को शिक्षित बनाने की ज़रा भी परवाह न करते थे। सारी जनता में अविद्या का अन्धकार छाया हुआ था। वस्तुतः गाँव में कदाचित ही कोई ऐसा व्यक्ति मिल सकता था जो किसी प्रकार थोड़ा-बहुत शिक्षित कहा जा सकता हो।

शिक्षा सम्बन्धी नयी योजना

इस जाँच की रिपोर्ट के आधार पर मि० टॉमसन ने अपनी शिक्षा-प्रचार की योजना तैयार की, जिसका आभास आदेश पत्र में ही मिल चुका था। बङ्गाल और बिहार की पाठशालाओं के सम्बन्ध में मि० एडम की रिपोर्ट से प्रभावित होकर ही, उन्होंने देसी स्कूलों को प्रोत्साहन देने, उनकी संख्या बढ़ाने और उन्हें

संगठित करने की योजना तैयार की थी, लेकिन उनको स्थायी बनाने की योजना तो नितान्त मौलिक थी।

भारतवर्ष में बहुत पुराने समय से निरङ्कुश शासन चला आता है, इसलिए यहाँ की जनता हर बात में शासक की अग्रसरता की आदी पड़ गयी है। मि० टॉमसन का यह आदर्श, जिसमें जनता शिक्षा-प्रचार के कार्य में स्वतः अग्रसर हो, केवल जन-सत्तात्मक शासन में सम्भव था। उस समय तो इङ्गलैण्ड में भी शिक्षा जन-सत्तामक शासन के अधीन न थी। यहाँ की कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए उन्होंने मध्यम मार्ग का अनुसरण कर, जनता के उद्योगों और उपक्रम की आधुनिक नीति के साथ-साथ सरकारी संरक्षण को भी महत्त्व प्रदान करने की चेष्टा की। पहले के शासकों ने समय-समय पर शिक्षा-प्रसार के लिए "मुआफ़ी" और जागीरें प्रदान की थीं। ये मुआफ़ियाँ प्राय: व्यक्ति-विशेष को ही दी जाती थीं, और वे उनकी परम्परागत सम्पत्ति बन जाती थीं। जनता इस जागीर प्रथा की अभ्यस्त थी और इसकी उपयोगिता भी ख़ूब समझती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अनेक जागीरें ज़ब्त कर ली थीं; यहाँ तक कि शिक्षा-प्रसार के लिए दी हुई जागीरें भी ज़ब्त कर ली गयी थीं। मि० टॉमसन का मत था कि सरकार शिक्षा-प्रसार के लिए ऐसे रूप में सहायता दे, जो जनता को आकर्षक मालूम हो और जिसके मूल्य को भी वह समझ सके।

सरकारी सहायता की आवश्यकता सब को विदित थी। जनता निर्धन थी और यद्यपि शिक्षा-प्रसार का थोड़ा-बहुत कार्य जारी था, परन्तु यह तो प्रत्यक्ष ही था कि जनता के लिए सरकारी सहायता बिना स्कूलों का संचालन करना कठिन था। इसलिए उन्होंने एक ऐसी योजना तैयार की, जिसके अनुसार २० से ४० रु० सालाना लगान को अथवा ५ से लेकर १० एकड़ तक की ज़मीन, प्रत्येक ग्राम के स्कूल को 'मुआफ़ी' के रूप में देने की सिफ़ारिश की गयी थी। ज़मीन्दारों के यह विश्वास दिलाने पर कि इस 'मुआफ़ी' से पाठशाला के अध्यापक का पोषण किया जायगा, सरकार उतनी ज़मीन पर लगान माफ़ कर देने को तैयार होगी। ये जागीरें पुरानी जागीरों की भाँति व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति न होकर अवैयक्तिक होनी चाहिए थीं। स्थान विशेष के प्रतिष्ठित और गण्यमान्य सज्जनों और ज़मीन्दारों पर उस के सञ्चालन का भार रख कर इस योजना में पाश्चात्य लोक-प्रवृत्ति को भी स्थान दिया गया था। अध्यापक की नियुक्ति करना भी उन्हीं लोगों के हाथ में रखा गया था और उसकी कम से कम योग्यता भी निर्धारित कर दी गयी थी।

सरकारी नियन्त्रण भी इस योजना का एक अङ्ग था। कलक्टर को यह आदेश था कि वह ज़मीन्दारों और प्रतिष्ठित लोगों का प्रार्थना-पत्र आने पर स्वयम् इस बात की जाँच करके पता लगावे कि गाँव वाले स्कूल खोलने के लिए वास्तव में इच्छुक हैं या नहीं। वह यह भी देखे कि उनके दान के प्रस्ताव

की कितनी यथार्थता है। इसके बाद वह सरकार से इस बात की सिफ़ारिश करे कि उस भूमि को लगान से मुक्त कर दिया जाय। इस योजना में राज्य-नियन्त्रण का भी समुचित प्रबन्ध था, क्योंकि अध्यापक की नियुक्ति के सम्बन्ध में कलक्टर की स्वीकृति आवश्यक थी और उसको स्वयम् तथा उसके सहायक अधिकारियों को समय-समय पर स्कूलों का निरीक्षण करने का अधिकार दिया गया था। उनको यह भी देखना पड़ता था कि उस दान का उपयोग वास्तव में अध्यापक के निर्वाह के लिए ही होता है या नहीं। उनको यह भी अधिकार था कि वे किसी अयोग्य अध्यापक को तुरन्त हटा दें और यदि ऐसा न किया जाय तो स्कूल के लिए दान की हुई भूमि को वापिस ले लें।

यह योजना जाँच के परिणाम के साथ-साथ ईस्ट इन्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों के पास उनकी स्वीकृति के लिए भेजी गयी, क्योंकि ग़दर से पहले सारे ख़र्च की स्वीकृति उन्हीं से ली जाती थी। इसके साथ के पत्र में हमारी प्रान्तीय सरकार के सेक्रेटरी मिस्टर थार्नटन ने लिखा था, 'यह परिपाटी इस प्रान्त की जनता के रीति-रिवाज और उनकी मनोवृत्ति के अनुकूल है। इसके अनुसार अध्यापक गाँव का एक ऐसा सार्वजनिक सेवक हो जायगा जिसकी नियुक्ति और जिसका निर्वाह ग्रामीण जनता की पूर्व प्रथानुसार होगा।' जागीर प्रथा की सिफ़ारिश के लिए प्रान्तीय सरकार जिन कारणों से प्रेरित हुई थी, उनका उल्लेख करते हुए उसमें लिखा था कि नक़द वेतन देने की अपेक्षा,

मुआफ़ी में भूमि दे देना कहीं अच्छा होगा, क्योंकि इससे वेतन की अपेक्षा, चाहे वह उस भूमि की आय से अधिक ही क्यों न हो, लोगों की निगाह में अध्यापक का पद अधिक सम्मान-सूचक प्रकट होगा। इस अवस्था में अध्यापक का जनता के साथ भी ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जायगा, जिससे उनमें सरकार के वेतन-भोगी कर्मचारी की अपेक्षा उसकी सेवाओं का अधिक मान होगा।

पत्र के अन्त में डाइरेक्टरों को मानो उनके उत्तरदायित्त्व का स्मरण दिलाने के लिए लिखा हुआ था, "ब्रटिश गवर्नमेण्ट पर यह अभिशाप सदा लगाया जाता है कि वह पुराने शासकों द्वारा दी हुई जागीरों को तो बराबर छीनती चली जाती है, किन्तु स्वयम् उस उद्देश-पूर्त्ति के लिए भी एक जागीर नहीं देती, जिसको वह स्वयम भी उचित और उपयुक्त समझती है। यह योजना इस अभिशाप को कुछ अंश में अवश्य दूर कर देगी, और वह भी इस प्रकार जिसे जनसाधारण पसन्द करते हैं।"

जागीर देने की योजना पर थोड़ा आलोचनात्मक विचार करने की आवश्यकता है। मिस्टर टॉमसन की गणना उस उच्च-कोटि के शासकों में है, जो जनसाधारण की भावनाओं को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं, और कम से कम हमारे देश में तो ऐसे ही शासक सफल हुए हैं जिन्होंने जनसाधारण पर उनकी भावनाओं के अनुकूल शासन करने की चेष्टा की है। शिक्षा के लिए जागीर देने की योजना से अवश्य ही उनकी मनोभावनाओं पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता। इसके अतिरिक्त टॉमसन को

इच्छा थी कि इस शिक्षा-पद्धति को जनसाधारण के रीति-रिवाज और उनकी मनोवृत्तियों के अनुकूल बना कर राष्ट्रीय स्वरूप दे दिया जाय। भारतवर्ष में जनसाधारण की दृष्टि में भूमि का स्थान इतना ऊँचा है कि विदेशियों के लिए इसका अनुमान करना भी कठिन है। यहाँ तो एक साधारण छोटे से ज़मीन्दार का सम्मान किसी लखपती व्यापारी की अपेक्षा भी बहुत अधिक है।

यहाँ की जनता की दृष्टि में किसी मनुष्य का पद और उसकी मान-प्रतिष्ठा इस बात पर अधिक अवलम्बित है कि उसके अधिकार में कितनी भूमि है। इसीलिए भूमि मिलने से ग्रामीण जनता की दृष्टि में अध्यापक का सम्मान अवश्य ही बहुत बढ़ जाता और उनके साथ उसका सम्बन्ध भी अधिक दृढ़ हो जाता। एक दूसरी बात यह भी थी कि यह प्रबन्ध अधिक सुविधाजनक और स्थायी भी होता, क्योंकि ऐसा कर देने से बार-बार कम्पनी के डाइरेक्टरों की स्वीकृति मँगाने की कष्टदायी असुविधा से भी बचाव हो जाता। अगर यह योजना स्वीकृत हो गयी होती तो आज प्रत्येक गाँव में एक ऐसी प्रथा की नींव सुदृढ़ हो जाती जिससे, थोड़ी-बहुत अतिरिक्त आय की व्यवस्था हो जाने पर, हमारे यहाँ की शिक्षा-प्रचार की वर्तमान आर्थिक समस्या बहुत कुछ अंशों में हल हो जाती।

परन्तु इस प्रस्तावित योजना के विरुद्ध बहुत सी आपत्तियाँ भी थीं। जागीर मध्यकालीन युग की संस्मारक अवश्य थी। उस

युग में, जब न तो अच्छी सड़कें थीं, न आने-जाने के सुगम साधन थे, और न मुद्रा का सुलभ आदान-प्रदान सम्भव था, ठीक समय पर और नियमित रूप से वेतन-वितरण करना बहुत कठिन था। उस समय तो जिन लोगों को वेतन मिलता था, उन्हें प्रायः साल भर में या छठे महीने ही एक बार मिल पाता था। यह अवश्य ठीक है कि उस समय के जागीरदार का जनता पर बहुत प्रभाव था, परन्तु साथ ही साथ वैतनिक कर्मचारियों का मान भी दिन-प्रति दिन बढ़ रहा था। एक तरह से तो जागीर मिलने से अध्यापक की आय अवश्य ही अनिश्चित हो जाती, क्योंकि इस योजना में सूखा आदि से फ़सल मारी जाने, दुर्भिक्ष पड़ने अथवा बाढ़ आ जाने से जो हानि होती, उसका कोई प्रबन्ध न रक्खा गया था और इसलिए अध्यापक की वृत्ति एक प्रकार से स्थायी होने पर भी उसके लिए सदा चिन्ता का कारण रहती।

योजना की अस्वीकृति

कम्पनी के डाइरेक्टरों ने योजना के इस अंश को पसन्द नहीं किया और उन्होंने उस के इस अंश को अस्वीकार कर दिया। फिर भी वे जनसाधरण में शिक्षा-प्रचार के लिए टॉमसन से भी कहीं अधिक उत्सुक थे। उन्होंने हमारे प्रान्त में प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार में प्रोत्साहन की आवश्यकता को भली-भाँति समझ लिया था और स्वयम् व्यापारी होने की हैसियत से यह बात उनके घट उतर गयी थी कि यह

नितान्त आवश्यक था कि ज़मीन्दारों में कम से कम इतनी योग्यता तो अवश्य ही होनी चाहिए कि वे पटवारी के काग़ज़ों के इन्दराज़ों की जाँच कर लें और यह समझ लें कि उनकी देनदारी क्या है ?

चाहे तो अनपढ़ जन-साधारण में शिक्षा-प्रचार की लोक-हितैषी इच्छा के कारण या पटवारी के काग़ज़ों के इन्दराजों की जाँच करने और अपनी देनदारी की अवस्था का ज्ञान प्राप्त करने की चिन्ता के कारण (अथवा, सम्भव है, दोनों ही बातों से प्रभावित होकर) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने हमारे प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर के इस प्रस्ताव का बड़े उत्साह से समर्थन किया कि ग्रामीण जनता में शिक्षा-प्रचार की परम आवश्यकता थी। टॉमसन साहब ने अपना प्रस्ताव प्रस्तुत करने में अपने उत्साह की अपेक्षा विवेक से अधिक काम लिया था, और इसलिए उन्होंने अपनी योजना बनाने में बड़ी सावधानी की थी। लेकिन डाइरेक्टरों ने इस विषय में बड़ा प्रशंसनीय उत्साह दिखाते हुए लिखा कि ऐसी परिस्थिति में हम जनसाधारण में शिक्षा-प्रचार के लिए इससे भी अधिक ऐसी विस्तृत योजना को, जिससे सारे प्रान्त में सार्वजनिक शिक्षा का प्रचार हो जाय, स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, जिसे आगरा प्रान्त की सरकार की भी स्वीकृति प्राप्त हो। गाँव के अध्यापकों को जागीर रूप में ज़मीन देने का निषेध करने पर भी उन्होंने लिखा कि वे उन अध्यापकों को माहवारी वेतन देने के लिए तैयार हैं जो आवश्यक

योग्यतानुसार बड़े-बड़े गाँवों में नियुक्त किये जायँ अथवा जो पहले ही से नियुक्त हों। परन्तु ऐसे अध्यापकों को वेतन देना स्वीकार करते समय वे इस बात को देख लेना चाहते थे कि अपना काम सुचारु और नियमित रूप से करने के लिए वे वैध अधिकारियों द्वारा स्थानीय गवर्नमेण्ट के समक्ष उत्तरदायी हों।

दूसरी योजना

अब टॉमसन साहब ने दूसरी योजना प्रस्तुत की। इसके अनुसार हर तहसील में एक-एक ऐसा सरकारी स्कूल खोलने का प्रस्ताव किया गया था जो पास-पड़ोस के स्कूल के लिए आदर्श का काम दे। इस योजना में देसी स्कूलों की भी उपेक्षा नहीं की गयी थी, और उनके निरीक्षण के लिए भी व्यवस्था की गयी थी। इन पाठशालाओं की देख-भाल करने और जनसाधारण तथा स्कूलों को परामर्श और सहायता देने तथा उनका उत्साह बढ़ाने के लिए ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति की सिफ़ारिश की की गयी थी, जिनको सरकार अपनी क्रमिक उन्नति की सावधान नीति के अनुसार, 'इन्सपेक्टर' के बजाय 'विज़िटर' के नाम से व्यक्त करना चाहती थी। इन इन्सपेक्टरों को इस बात का अधिकार दिया गया था कि वे योग्य अध्यापकों को पुरस्कार भी दे सकें। यह पारितोषिक भविष्य में उनका वेतन नियत करने का साधन भी बन सकता था।

इस पद्धति में हर ज़िले के लिए एक निरीक्षक और उसकी सहायता के लिए तीन परगना-नायक रखने की योजना की गयी

थी और इनके कार्य के निरीक्षण और उसके नियमन करने के लिए एक प्रधान निरीक्षक (विज़िटर जनरल) की नियुक्ति की सिफ़ारिश की गयी थी। प्रारम्भ में तो इस पद पर किसी अनुभवी योग्य सिविलियन को नियुक्त करना था, क्योंकि इस योजना की सफलता, ऐसे अधिकारी की मालगुज़ारी-प्रथा की विस्तृत जानकारी और जन-साधारण में उस प्रभावशाली धाक पर निर्भर थी, जो इस देश में हर सिविलियन के नाम के साथ परिवेष्ठित है। इन निरीक्षकों और अध्यापकों की जो योग्यता इस योजना में अपेक्षित थी, उसके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय हमारे प्रान्त की शिक्षा कितनी हीन अवस्था को प्राप्त हो गयी थी। ज़िले के विज़िटर (आजकल के डिप्टी इन्सपेक्टर) को हिन्दी और उर्दू की इतनी जानकारी होनी चाहिए थी जिससे वह इन भाषाओं को पढ़-लिख सके और साधारणतया हिन्दी-उर्दू में पढ़ायी जाने वाली पुस्तकों का भी ज्ञान रखता हो। उसके लिए फ़ारसी या संस्कृत का भी कुछ ज्ञान होना आवश्यक था। ज़मीन के बन्दोबस्त की मिसिल तैयार करने, पटवारी के बहीखाते पढ़ने और समझने तथा साधारण गणित, ज़मीन की नाप आदि की भी उसे जानकारी होनी अपेक्षित थी।

परगने के विज़िटरों और तहसील के अध्यापकों में हिन्दी-उर्दू का साधारण ज्ञान तथा इन भाषाओं में लिखी हुई अन्य साधारण पुस्तकें पढ़ कर समझ लेने की योग्यता और रामसरनदास की चारों पुस्तकों का ज्ञान होना ज़रूरी था।

पढ़े-लिखे आदमियों की उस समय में इतनी कमी थी कि इतनी कम योग्यता वाले पुरुष के लिए भी १०० रु० से २०० रु० तक मासिक वेतन रखा गया था। इस समय रुपये का मूल्य पूर्वापेक्षा अत्यधिक घट गया है, फिर भी आजकल एम० ए० पास व्यक्ति को यदि १०० रु० मासिक मिलें तो वह अपने को भाग्यवान समझता है। इसी प्रकार परगना विज़टरों का वेतन ३० रु० से ४० रु० मासिक, और तहसीली स्कूलों के अध्यापकों को १० से २० रु० मासिक देने की व्यवस्था इस योजना में रखी गयी थी। इसके अतिरिक्त अध्यापकों को बालकों की फ़ीस का रुपया भी स्वयम् रख लेने का अधिकार मिला था। इतना वेतन मिलने की व्यवस्था रहने पर भी विज़िटर जनरल को शिकायत थी कि उस समय अच्छे और सुयोग्य अध्यापक मुश्किल से ही मिलते थे।

योजना की स्वीकृति

टॉमसन साहब ने पहले केवल आठ ही ज़िलों में इस योजना का प्रयोग करने और फिर इसे धीरे-धीरे सारे प्रान्त में फैला देने का प्रस्ताव किया था। किसानों में इस प्रकार की प्रारम्भिक शिक्षा की योजना को डाइरेक्टरों ने तुरन्त स्वीकार कर लिया और इस कार्य के लिए ५० हज़ार रुपये सालाना का ख़र्च मन्ज़ूर कर दिया।

तदनुसार १८५० ई० में बरेली, अलीगढ़, मथुरा, आगरा, मैनपुरी, शाहजहाँपुर, फर्रुख़ाबाद और इटावे के ज़िले में यह

योजना जारी की गयी। सरकार ने अपने प्रस्ताव में, इस योजना के उद्देश का स्पष्टीकरण किया और अपनी नीति का तथा सरकारी नौकरों के कर्त्तव्यों का उल्लेख कर दिया। इस प्रस्ताव से योजना के विधायक का अन्तरुद्देश्य झलकता है। इस में लिखा है, कि इस योजना में एक ऐसी संस्था स्थापित करने का विचार किया गया है, जो लोगों को यह बतलाये कि अशिक्षित रहने से क्या-क्या हानियाँ हैं; जो उस अज्ञान को स्वतः दूर करने के लिए जनता में शक्ति पैदा करे; जो योग्य अध्यापक और अच्छी पाठ्य-पुस्तकें प्रस्तुत कर सके; और जो परिश्रमी अध्यापक और योग्य विद्यार्थियों को परितोषिक आदि देकर उन्हें समुत्साहित कर सके।"

टामसन साहब को चिन्ता थी कि इस नवीन योजना का देसी स्कूलों पर बुरा प्रभाव न पड़ने पाये और साथ ही साथ लोग अपने आप पर निर्भर बने रहें। अतः इस प्रस्ताव में साफ़ शब्दों में उल्लेख किया गया था कि इन स्कूलों को जनता द्वारा परिचालित पुरानी परिपाटी की पाठशालाओं का प्रतिद्वन्द्वी न बनाया जायगा। इस उद्देश की पूर्ति के लिए इन स्कूलों में, ग्राम्य स्कूलों की अपेक्षा, दाखिले के नियम कुछ अधिक कठिन रखे जायँ, और जिन अध्यापकों का नाम निरीक्षकों की सूची में मौजूद हो, उनको सिफ़ारिश लेकर आने वाले विद्यार्थियों को ही इन स्कूलों में निःशुल्क दाखिल किया जाय।"

इस योजना में इस बात का भी ध्यान रखा गया था कि जनता अपनी उन्नति के लिए अपनी ही शक्ति का संचय करे, न कि गवर्नमेन्ट की ओर से और गवर्नमेन्ट के ख़र्चे से उनकी शिक्षा के लिए उन्हें पढ़ने-लिखने की वस्तुएँ दी जाँय और अन्य साधन उपस्थित किये जायँ। इस प्रकार इस योजना को जनता में सफल बनाने के लिए प्रबोधन, सहायता और प्रोत्साहन का ही अवलम्बन किया जाय, यही इस समय सरकार की निश्चित नीति थी।

इस बात का भी प्रबन्ध किया गया था कि जनसाधारण के विचारों और प्रवृत्तियों का विशेष ध्यान रखा जाय और स्कूल-संचालकों की इच्छा के प्रतिकूल स्कूलों के कार्यों में कभी हस्तक्षेप न किया जाय। देसी स्कूलों की संख्या-वृद्धि और उनके विकास पर इस योजना की सफलता निर्भर इसलिए अध्यापकों की जीविका के लिए ग़रीबों में चन्दा करने की और अमीरों में स्कूल-संचालन के भार को वहन करने की प्रवृत्ति पैदा की जाय, जिससे उनके गरीब पड़ोसी लाभ उठा सकें। इस प्रकार सब स्कूलों को सहायता पहुँचायी जाय, और उनको अग्रसर करने का प्रयत्न किया जाय।

इस नीति का भाव प्रत्यक्ष में बड़ा उदार था। यह प्रस्ताव भी बड़े ही प्रशस्त और उदार भावों से पूर्ण था। इसके द्वारा लोगों को कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने और सरकार की ओर से पूरी सहायता देने का प्रयत्न किया गया था। पुराने स्कूलों के अवनत

होने और उनके स्थान में नये सरकारी स्कूल या बोर्ड स्कूलों के खुलने के कारणों का विवेचन हम आगे यथास्थान करेंगे। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा कि मि० टामसन ने जन समुदाय में शिक्षा-प्रचार के काम में सरकार की सहानुभूति उत्पन्न कर दी थी। उन्होंने शिक्षा-प्रचार की नीति और उसके संचालन के लिए एक ऐसा साधन उपस्थित कर दिया था कि पश्चिमोत्तरी प्रान्त (यू० पी०) के शिक्षा-प्रचार के इतिहास में एक नवीन युग प्रारम्भ हो गया।

चौथा अध्याय

व्यवस्थापन और एकीकरण

(१८५०—८२ ई०)

अधिकारी वर्ग का शिक्षा-पद्धति पर प्रभाव

शिक्षा-विभाग के 'विजिटर जनरल' के पद पर बंगाल सिविल सर्विस के एच. स्टीवार्ड साहब की नियुक्ति हुई और उन्होंने सन् १८५० से अपना कार्य आरम्भ किया। सरकार की यह नवीन योजना पूर्ण रूप से क्रान्तिकारी थी, क्योंकि यह प्रजा के नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक जीवन के अन्तस्तल को भली-भाँति प्रभावित और स्फुरित करने वाली थी। किन्तु इस शिक्षाविभाग की स्थापना ऐसे शासनाधिकारियों की अध्यक्षता में हुई थी जो अनुगमन मात्र से शिक्षा-प्रचारक भी बन गये थे। इसका फल यह हुआ कि हमारे यहाँ की शिक्षा-प्रणाली प्रारम्भ ही से शासनाधिकारियों के विचारों के रंग में रंग गयी।

शासन का कार्य सरलता के साथ चलानें तथा पदाधिकारियों की सुविधा की दृष्टि से शिक्षा-विभाग भी शासन-प्रबन्ध का एक अंग बना दिया गया था। मालगुज़ारी की योजना को सफल बनाने की दृष्टि से ही किसानों में शिक्षा-प्रचार का आयोजन

किया गया था। शिक्षा के नैतिक लाभ का विचार तो एक प्रकार से आवश्यकीय उपलक्ष था जो बाद में इस नीति के साथ जोड़ दिया गया। इसका पाठ्य-क्रम भी इसी दृष्टि-कोण से तैयार किया गया था। वास्तव में शिक्षा-विभाग का संगठन प्रान्त की मालगुजारी प्रथा को दृष्टिगत रख कर किया गया था और माल तथा शासन-विभाग के अधिकारियों को आदेश दिया गया था कि वे लोग शिक्षा-प्रचार के कार्य को भी अपना कर्त्तव्य समझें। कलक्टरों को आदेश था कि वे समय-समय पर स्कूलों का निरीक्षण करें और योग्य अध्यापकों तथा परिश्रमी विद्यार्थियों को उचित पुरस्कार दे कर उन्हें उत्साह प्रदान करें।

इन शासनाधिकारियों ने शिक्षा-प्रचार के सम्बन्ध में प्रयोगात्मक प्रयत्न करके अपनी सर्वदक्षता का एक और परिचय दिया। प्रसिद्ध हल्कावन्दी स्कूलों का आयोजन एक कलक्टर द्वारा ही किया गया था। कलक्टरों और तहसीलदारों द्वारा पठन-पाठन के लिए पाठ्य पुस्तकें बराबर वितरित की जाती थीं और ऊँचे अफ़सर भी शिक्षा के सम्बन्ध में लाभप्रद सम्मति दिया करते थे। शासनाधिकारियों के पितृतुल्य व्यवहार का यह खासा प्रदर्शन था, लेकिन उनमें से अधिकांश इस योजना को केवल अच्छे मुंशी, योग्य पटवारी और कार्यदक्ष अमले प्राप्त करने का साधन-मात्र समझते थे। इस प्रकार इस प्रान्त में शिक्षा को सरकारी नौकरी पाने का एक साधन समझने की प्रथा उसी समय से प्रारम्भ हो गयी, और वह उसी रूप में आज भी हमारे सामने मौजूद है।

लेकिन एक बात तो निस्सन्देह है कि शासनाधिकारियों की सहायता बिना हमारे प्रान्त में शिक्षा-प्रचार इतना विकसित न हो पाता। क्योंकि जिन-जिन स्थानों में स्थानीय युरोपियन अधिकारियों ने शिक्षा-प्रचार में अपनी रुचि प्रकट नहीं की, वहाँ हल्काबन्दी स्कूलों का चला लेना कठिन कार्य्य हो गया। यद्यपि कुछ शासनाधिकारी सर्वसाधारण के शिक्षा-प्रचार में पर्याप्त रुचि प्रदर्शित करते थे, तथापि वे स्वभावतः शिक्षा-प्रचारकों के दृष्टि-कोण को अपने समक्ष रखने में असमर्थ थे।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

मिस्टर रीड के सामने अनेक कठिनाइयाँ थीं। जनता सरकार के उद्देश को यथार्थ रूप में न समझ सकी थी। उस की ज्ञान-शून्यता तो बढ़ी थी ही, फिर सरकार की ओर से शिक्षा-प्रचार की व्यवस्था ऐतिहासिक परम्परा तथा भारतीय राजनीति के विरुद्ध थी। इस प्रकार का शिक्षा-प्रचार व्यक्तिगत जीवन तथा ग्राम-संगठन में बहुत बड़ा सरकारी हस्तक्षेप था। ऐसी योजना, चाहे वह किसी समय पर प्रस्तावित की जाती, ग्रामीण जनता में एक विचित्र आशंका उत्पन्न किये बिना न रह सकती थी। कलक्टर साहब द्वारा अध्यापक अथवा विद्यार्थियों को वस्त्र, पुस्तकें, और पुरस्कार आदि मिलने की बात तो जनता की समझ में आ सकती थी। प्राचीन शासक भी विद्या-प्रचार के संरक्षक होते थे, किन्तु अँगरेज़ी सरकार ने तो सारे शिक्षा-प्रचार को ही व्यवस्थित और केन्द्रीभूत करने के साथ-साथ व्यावहारिक बनाने

का भी काम अपने ऊपर उठा लिया था। इसलिए जब नियमित रूप से स्कूलों और विद्यार्थियों की नामावली तैयार की जाने लगी और इन्सपेक्टरों द्वारा उनका नियमित निरीक्षण होने लगा, तब तो उनके लिए एक बिल्कुल नवीन बात उत्पन्न हो गयी।

हमारे यहाँ के अध्यापकों को अब तक संरक्षकों की संरक्षता का अनुभव था, किन्तु अपने अध्यापन-कार्य्य को टीका-टिप्पणी करने वालों का कोई अनुभव न था। उन्हें अब तक विद्यार्थियों को वैयक्तिक रूप से शिक्षा-प्रदान करने का अभ्यास था, लेकिन विद्यार्थियों की कक्षाओं को उन्होंने अब तक न पढ़ाया था। वे शिक्षक थे और अपना व्यक्तित्व रखते थे। अपनी मनचाही पद्धति से वे विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। परन्तु इस नवीन संगठन का आवश्यम्भावी परिणाम यह होना था कि उनकी स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचे और उनका व्यक्तित्व एक ऐसे बड़े व्यवस्थित शिक्षा-क्षेत्र में तल्लीन हो जाय, जहाँ वे केवल मशीन के एक पुर्जे के समान आवश्यक होते हुए भी नगण्य ही रहें। वे इस प्रकार के संकलीकरण के लाभों का ठीक-ठीक निरूपण भी न कर सकते थे, किन्तु वे यह आसानी से अनुभव कर सकते थे कि इससे उनकी मान मर्यादा, प्रतिष्ठा गौरव, तथा स्वतन्त्रता आदि का ह्रास होता जा रहा था। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि उनमें से कुछ लोगों ने अज्ञात भय की कल्पना से लोगों को इन बातों के विरुद्ध बहकाना शुरू कर दिया।

उच्च जातियाँ और उनके भाव में परिवर्तन

इन सन्देहों के प्रभाव में आकर उच्च-जातियों के लोग भी इन अध्यापकों के साथी हो गये थे, इसीलिए आरम्भ में ये लोग सरकारी स्कूलों से बचते रहे। लेकिन धीरे-धीरे उनका यह भय दूर होने लगा और ग़दर की घटना ने तो उनकी आँखें खोल दीं और फिर नवीन विचार-धारा के आगे उनको नतमस्तक होना पड़ा। शिक्षित समाज ने, जिसमें कायस्थ, बनियें, खत्री, कश्मीरी और ब्राह्मण शामिल थे और जो सरकारी नौकरी से अपनी जीविका चलाते थे, नयी सरकार की भाँति नये स्कूलों की महत्ता चुपचाप स्वीकार कर ली और पुरानी परिपाटी की शिक्षा को त्याग कर वे नवीन प्रणाली की शिक्षा को मान्य समझने लगे। लेकिन जिनकी जीविका सरकारी नौकरी पर निर्भर नहीं थी, अथवा जिन्हें अपनी मान-मर्यादा का अभिमान था, उन लोगों को इस नवीन शिक्षा से अभ्यस्त होने में बहुत समय लगा। जब उन्हें इसके बिना अपनी मान-मर्यादा तक नष्ट होती दिखायी देने लगी, तब भी वे इसकी ओर अग्रसर हुए। महाकवि अकबर की इन पंक्तियों से इनका यह भाव भली भाँति प्रकट होता है—

सड़क पै माँग है कुलियों की और मेटों की,
कचहरियों में माँग है फ़क़त ग्रेजुएटों की,
ख़राबी है तो शेख़जी के बेटों की।

जिस समय की आलोचना यहाँ पर की जा रही है, उस समय सरकारी स्कूलों के प्रति धीरे-धीरे जनता की धारणा

बदलने लगी थी। इस बीच में इतनी राजनीतिक जाग्रति हो गयी थी कि सन् १८८५ ई० में जब इण्डियन नेशनल कांग्रेस का आयोजन हुआ, तो इस प्रान्त में भी उसके कट्टर विरोधियों और समर्थकों की कमी न थी।

राजनीतिक जाग्रति का प्रभाव शिक्षा पर भी आवश्यम्भावी था, लेकिन यह बात जरूर कहनी पड़ेगी कि अधिकांश लोगों का शिक्षा के प्रति प्रेम का अभिनय केवल रोटी कमाने के लिए ही था। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर एम० केम्पसन साहब ने इस प्रवृत्ति को पहले ही समझ लिया था और उनका यह कहना सत्य ही था कि देश की ऊँची जाति के लोग जिस शिक्षा के ग्रहण करने में इस समय अरुचि और असम्मति प्रकाशित करते हैं, उसी शिक्षा को वे लोग कुछ ही समय बाद सरकार से अधिकार रूप में माँगने लगेंगे। इस सम्बन्ध में उनका अभिप्राय विशेष कर शहरों में बसने वाले उच्च श्रेणी के लोगों और मुसलमानों से था।

शिक्षा-प्रचार पर इस परिस्थिति का प्रभाव

शिक्षा के प्रति भाव-परिवर्तन के साथ ही साथ स्कूलों के प्रति भी लोगों के भाव बदल गये। वे देसी पाठशालाओं को तो अपनी चीज समझते थे, किन्तु नवीन पद्धति के स्कूल चूँकि 'सरकारी' कहलाते थे इसलिए उनके प्रति उनके हृदय में कोई महत्त्व न था। यह भी नवीन आयोजना का एक दोष था। शिक्षा-विभाग इतना अधिक केन्द्रित और व्यवस्थित कर दिया

गया था कि उसमें स्थानीय सार्वजनिक रोचकता के लिए स्थान ही न था। धीरे-धीरे इसका दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि शिक्षा के सम्बन्ध में जनता की रुचि नष्ट-प्राय हो गयी और वह अपनी शिक्षा के लिए भी सरकार पर उसी प्रकार निर्भर रहने की आदी बन गयी जितनी कि पुलिस से रक्षा के लिए।

सरकार द्वारा शिक्षा-प्रचार का एक और परिणाम हुआ जिसका अनुमान लोगों को न था। शुरू में इस शिक्षा-विधि के आयोजन में पुरानी पद्धति के स्कूलों के ही आधार पर शिक्षा देने का मंशा था। उनमें उन्नति करके और उन्हें आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया था, किन्तु वस्तुतः इस आयोजना ने पुरानी पद्धति के स्कूलों के स्थान पर नयी पद्धति के स्कूल स्थापित करा दिये।

देसी भाषाओं के विरुद्ध भावना

रीड साहब को अन्य प्रकार की कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ा। इस नयी योजना में देसी भाषाओं के माध्यम द्वारा ही शिक्षा-प्रचार का आयोजन किया गया था। किन्तु इन देसी भाषाओं में लोगों की रुचि नहीं थी। संस्कृत और फ़ारसी ज्ञान का आगार और ज्ञातव्य विषयों का एकाकी माध्यम समझी जाती थीं। पढ़े-लिखे हिन्दू 'हिन्दी' को नीची दृष्टि से देखते और उसे 'भाषा' शब्द से सम्बोधित करते थे। इसी प्रकार मुसलमान लोग भी उर्दू को निकृष्ट और हीन समझते थे।

भाषा के महत्त्व को समझाना तथा उसके प्रति लोगों में रुचि पैदा करना, उस समय टेढ़ी खीर थी।

उर्दू-हिन्दी के प्रचार के लिए उस समय हर प्रकार के उपाय किये गये; यहाँ तक कि सरकारी दबाव भी काम में लाया गया। जब एक बार भाषाओं का प्रचार शुरू हो गया, तो इनका विस्तार अपने आप होने लगा—यहाँ तक कि पिछली शताब्दी में इनके प्रचार का बड़ा भारी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। हिन्दू हिन्दी को और मुसलमान उर्दू को इस हद तक अपनाने लगे कि इस नयी प्रतिद्वन्द्विता में दोनों जातियों में वैमनस्य बढ़ने लगा। हिन्दी और उर्दू के प्रति पहले जो उपेक्षा दिखायी गयी थी उसके कारण स्कूलों में पढ़ायी जाने योग्य पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं। इसके फल स्वरूप शिक्षा-संचालकों के सामने बड़ी कठिनाई उपस्थित हो गयी। देसी भाषाओं के प्रति सार्वजनिक रुचि उत्पादन करने के अतिरिक्तशालोपयोगी-साहित्य की भी सृष्टि करने का भार उनके ऊपर आ पड़ा और यह कार्य सहल भी नहीं था।

तीन लिपियों से कठिनाइयाँ और शालोपयोगी पाठ्य-पुस्तकों का अभाव

प्रचलित भाषाओं की समस्या को फ़ारसी, नागरी और कैथी लिपियों की उपस्थिति ने और भी अधिक जटिल बना दिया था। इनमें कैथी नागरी की असंस्कृत और घसीट लिपि है जिसकी सृष्टि कायस्थों द्वारा हुई है। इसीलिए इसका नाम 'कैथी' पड़ा है। सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी संस्थाओं के सहयोग से इसका प्रचार

बन्द करने का उद्योग किया गया। बनारस और आरा नागरी प्रचारिणी सभाओं ने विशेष रूप से तथा अन्य नगरों की सभाओं ने सामान्यतः बड़े उत्साह के साथ इस आन्दोलन को सहायता पहुँचायी। परन्तु नागरी और उर्दू लिपियों की समस्या ने जातीय वैमनस्य का रूप धारण कर लिया जिसमें सर सैयद अहमद ख़ाँ ने उर्दू का और राजा शिवप्रसाद तथा बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी लिपि का पक्ष लिया। हिन्दी-उर्दू लिपि का यह झगड़ा आज भी पहले के समान ही समस्यापूर्ण बना हुआ है।

योग्य अध्यापकों और इन्स्पेक्टरों के अभाव की कठिनाइयाँ

इन सब समस्याओं के अतिरिक्त एक समस्या यह और थी कि इस समय योग्य अध्यापक तथा इन्स्पेक्टर बड़ी कठिनाई से मिलते थे। इन्हीं लोगों की योग्यता पर इस योजना-पद्धति की सफलता निर्भर थी, परन्तु इन्हीं का नितान्त अभाव था। जो लोग हाई स्कूलों या कालिजों में अँगरेजी शिक्षा पा चुके थे, उनकी उच्चाकांक्षाएँ भला ग्रामीण या तहसीली स्कूलों की मास्टरी से कैसे सन्तुष्ट हो सकती थीं? यह लोग ऐसी परिस्थिति में, जहाँ अधिक काम करने के अतिरिक्त नगर छोड़ कर गाँव में रहना पड़ता था और जिसके सम्पादन के लिए दृढ़ विश्वास और संलग्नता की आवश्यकता थी, भला क्यों रहना पसन्द करते? इसके अतिरिक्त गाँव वाले इनकी योग्यता से भयभीत होकर इन पर अपना विश्वास कैसे जमा सकते थे? इसीलिए यह लोग जहाँ कहीं गये भी, वहाँ इन्होंने अपने आप को अनुपयुक्त पाया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित 'ग्राम-पाठशाला नौकरी' के प्रहसन में गाँव की पाठशाला में इन अँगरेज़ी पढ़े अर्द्ध-शिक्षित अध्यापकों की करुण स्थिति का बड़ा सजीव चित्र दिखलाया गया है। ऐसी परिस्थिति में ग्रामीण पाठशालाओं के लिए जो अध्यापक उपलब्ध हो सकते थे, वे उसी पुरानी परिपाटी के पण्डित थे। परन्तु फिर भी यह तो प्रकट ही था कि ग्रामीण हिन्दी स्कूलों के अध्यापक बहुत कुछ अनभिज्ञ होने पर भी उद्धत स्वभाव के न होते थे। उन्हें अपनी कमी का बोध था और उसे दूर करने के लिए वे प्रस्तुत भी रहते थे। उनमें एक विशेषता यह भी थी कि वे अपने विद्यार्थियों के माता-पिताओं से भली भाँति परिचित थे और इसलिए उनके श्रद्धा-भाजन बने हुए थे। इधर यह नवीन शिक्षा-प्रणाली पर्याप्त रूप में क्रान्तिकारी थी, इसलिए उस समय की अवस्था में अध्यापकों को भी एक दम बदल देना बुद्धिमानी का कार्य न था।

रीड साहब का कार्य

इस प्रकार रीड साहब के विज़िटर-जनरली के समय में यह आवश्यक हो गया था कि नवीन शिक्षा-प्रणाली की नींव डालने के साथ ही साथ वे देसी पाठशालाओं की उन्नति में भी प्रोत्साहन दें, नये तहसीली स्कूल स्थापित करें तथा प्रान्तीय भाषाओं में शालोपयोगी साहित्य का निर्माण भी करायें। ज़िला और परगना के निरीक्षकों के पथ-प्रदर्शन के लिए विस्तृत नियम बन ही चुके थे, इसलिए रीड साहब को अब इस प्रणाली का

श्रीगणेश करना ही बाक़ी रह गया था। यह काम उन्होंने शीघ्र शुरू कर दिया।

शिक्षा सम्बन्धी परिस्थिति का भली भाँति मनन कर लेने के बाद उन्होंने तहसीली स्कूल स्थापित करना और देसी स्कूलों का निरीक्षण करना तथा उनको संख्याबद्ध करना शुरू कर दिया। शीघ्र ही यह बात प्रकट हो गयी कि देसी पाठशालाओं के अध्यापक सरकार द्वारा प्रकाशित पुस्तकें पढ़ाने तथा इन्सपेक्टरों के निरीक्षण से अन्यमनस्क नहीं थे और इसके लिए तैयार थे। समय-समय पर उन्हें पारितोषिक दिये जाने लगे थे और उन्हें इस बात का भी अधिकार दिया गया था कि वे अपने विद्यार्थियों को तहसीली स्कूलों में निःशुल्क भरती कराने की सिफ़ारिश कर सकें। यह सब सुविधाएँ होते हुए भी देसी पाठशालाओं की स्थिति डाँवाँडोल थी। तो भी इनके लिए शिक्षकों को तैयार करना विफल नहीं था; क्योंकि जैसे ही कोई अध्यापक एक पाठ-शाला के बन्द हो जाने पर खाली हो जाता था, वैसे ही वह दूसरे गाँव में जाकर दूसरी पाठशाला खोल लेता था।

तहसीली स्कूल

यद्यपि इस नयी प्रणाली में इस बात का विशेष रूप से ध्यान रक्खा गया था कि तहसीली स्कूल देसी पाठशालाओं के प्रति-द्वन्द्वी न बन जाँय, फिर भी शीघ्र ही ऐसे हल्कावन्दी स्कूल स्थापित होने लगे जो वास्तव में इन पाठशालाओं के प्रतिद्वन्द्वी थे। आरम्भ में हर तहसील में एक-एक तहसीली स्कूल आदर्श स्कूल के रूप में

स्थापित किया गया था। उसके लिए किसी परम्परा का प्रतिबन्ध भी नहीं था। जिन आठ जिलों में ऐसे स्कूल प्रयोगात्मक दृष्टि से स्थापित किये गये थे, उनकी उन्नति और वृद्धि के साथ-साथ इस प्रणाली की उन्नति होती गयी और वे सारे प्रान्त में फैलने लगे।

इन स्कूलों के पाठ्यक्रम में हिन्दी, उर्दू, इतिहास, भूगोल, ज्योमेट्री, बीज गणित, देसी बहीखाता और हिसाब पैमाइश आदि विषय सम्मिलित थे। फ़ारसी और प्राकृतिक विज्ञान के विषय बाद में बढ़ाये गये; परन्तु फिर शीघ्र ही हटा दिये गये। इन स्कूलों में अँगरेज़ी पढ़ाने के लिए भी चेष्टा की गयी थी; परन्तु इसे सरकार की ओर से प्रोत्साहन नहीं मिला, क्योंकि उनको आशंका थी कि यह स्कूल एक प्रकार के ऐसे ऐंग्लो वर्नाक्युलर स्कूल बन जायँगे जो प्रायः अनुपयुक्त और अयोग्य प्रमाणित होंगे। इस प्रकार आगे चल कर उन्हें उच्च वर्नाक्युलर स्कूलों का रूप देना अपेक्षित हुआ और १८७२ ई० में उनका नाम बदल कर वर्नाक्युलर मिडिल स्कूल कर दिया गया।

इन स्कूलों को स्थापित हुए अधिक समय न हुआ था कि इनकी उपयोगिता और उपयुक्तता विदित होने लगी। १८५३ ई० में डाक्टर मुआत, जो शिक्षा काउन्सिल का मन्त्री था, इनकी उपयुक्तता से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने बिहार और बङ्गाल में भी इसी प्रकार के स्कूल खोलने की सिफ़ारिश की। इसके बाद से इन स्कूलों की उपयोगिता प्रति वर्ष बढ़ती ही गयी

और १८५१ ई० में इनमें पढ़ने वाले लड़कों की संख्या १,४६५ से बढ़ कर १८५४ ई० में ४,६८८ हो गयी।

यह उन्नति भी सर्व्वतोन्मुखी थी। शिक्षण-विधि में बराबर उन्नति हो रही थी और वह क्रमशः उच्चस्थान प्राप्त करती जा रही थी। साथ ही पाठ्यक्रम के विषय भी बढ़ते जा रहे थे और देसी पाठशालाओं की अपेक्षा अब इनमें लड़के अधिक समय तक ठहरने भी लगे थे। परन्तु लड़कों की संख्या-वृद्धि का यह आशय नहीं था कि इन स्कूलों में देसी पाठशालाओं की अपेक्षा किसी दूसरी प्रकार के भी विद्यार्थी आकर्षित होने लगे थे। ब्राह्मण, बनिये और कायस्थ विद्यार्थी ही इनमें अधिक थे। मुसलमान बहुत धीरे-धीरे आने लगे थे और थोड़े समय बाद उनकी संख्या में भी ख़ूब उन्नति होने लगी। जिन स्कूलों में फ़ारसी और उर्दू पढ़ायी जाती थी, उनमें तो मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या पर्याप्त आने लगी थी। इन स्कूलों में हिन्दुओं की ५८ जातियों और उपजातियों के लड़के पढ़ने आते थे; लेकिन फिर भी शिक्षित जातियों के लड़कों की संख्या ही बहुत अधिक थी।

इन स्कूलों में विद्यार्थियों से फ़ीस ली जाती थी और देसी पाठशालाओं के वही लड़के इनमें निःशुल्क भरती किये जा सकते थे, जिनके अध्यापकों ने विज़िटर की हैसियत से उनकी सिफ़ारिश की हो। प्रारम्भिक योजना में सब लड़कों से उनके माता-पिता की आय के अनुसार फ़ीस लेना निश्चित किया गया था, परन्तु वास्तव में इस सिद्धान्त के अनुसार हर असमान परिस्थिति

का समाधान करना असम्भव हो गया और इसलिए हर लड़के से दो आने माहवारी फ़ीस निश्चित कर दी गयी। आज-कल यह फ़ीस बहुत थोड़ी मालूम पड़ती है, परन्तु उस समय की आर्थिक स्थिति के विचार से इस का वास्तविक मूल्य जानने के लिए इसे कम से कम पाँच गुना करना पड़ेगा।

परन्तु यह फ़ीस देना भी ग़रीब गाँव वालों के लिए भार हो गया था। वे तो हर महीने फ़ीस न देकर केवल फ़सल के समय और वह भी अन्न देकर इसका चुकता कर सकते थे। फल यह हुआ कि फ़ीस समय पर वसूल न होती थी और बहुत से लड़कों पर बक़ाया निकली रहती थी। सैकड़ों लड़कों से तो केवल एक ही आना लेकर छोड़ दिया जाता था। अधिकांश लोगों की यह धारणा थी कि अपने लड़कों को स्कूल में पढ़ने भेज कर वे सरकार अथवा उसके अफ़सरों पर एक प्रकार का अनुग्रह कर रहे हैं और इसलिए उनसे किसी प्रकार की फ़ीस न ली जानी चाहिए। परन्तु धीरे-धीरे फ़ीस वसूल करने में कड़ाई से काम लिया जाने लगा और फ़ीस न देने पर स्कूलों से नाम काट देने के नियम बन जाने पर, बक़ाया रखने वालों अथवा फ़ीस न देने वालों की संख्या में कमी हो गयी।

जिन अध्यापकों को १०) रु० से लेकर २०) रु० तक मासिक वेतन मिलता था वे अपने विद्यार्थियों से वसूल की हुई फ़ीस भी ले लेते थे। बाद में इसी फ़ीस में से नायब और मानीटर का वेतन तथा लिखने-पढ़ने के सामान का ख़र्च काट

कर बाक़ी रक़म अध्यापक को ही पारितोषिक के रूप में मिलने लगी। १८६७ ई० में इन स्कूलों का ख़र्च इतना बढ़ गया था कि उसे पूरा करने के लिए फ़ीस की सारी रक़म लेना आवश्यक हो गया और इसलिए यह घोषणा कर दी गयी कि फ़ीस सरकारी सम्पत्ति है और वह नियमानुसार निकटस्थ सरकारी ख़ज़ाने में जमा हो जानी चाहिए।

आगे चल कर इन स्कूलों में और भी अधिक परिवर्तन और सुधार किये गये। पहले इन स्कूलों में सात कक्षाएँ थीं, जो बहुत अधिक होने के कारण तोड़ कर चार कर दी गयीं और अब उनमें भरती होने वाले विद्यार्थियों से पहले से अधिक ऊँची योग्यता अपेक्षित हुई। १८७२ ई० में सारे प्रान्त के मिडिल स्कूलों के लिए एक सरकारी परीक्षा की योजना हो गयो। इससे सारे प्रान्त में शिक्षा की उन्नति की तुलना और सब जगह समान प्रामाणिकता प्राप्त करने की सुविधा हो गयी। पहली परीक्षा की उत्तरकापियाँ देख कर डाइरेक्टर महोदय को बहुत कुछ सान्त्वना हुई और इतिहास, भूगोल, गणित और फ़ारसी में लड़कों की योग्यता सन्तोषजनक प्रमाणित हुई। इस परीक्षा से यह भी स्पष्ट हो गया कि अभी मातृभाषा के अध्ययन में काफ़ी उन्नति नहीं हो पायी थी। इन स्कूलों में एक भारी कमी यह थी कि उनमें किसी प्रकार के हस्त-कौशल सिखाने का कोई प्रबन्ध न था और रुड़की इंजिनियरिंग कालिज में गाँवों के लड़कों की ड्राइङ्ग की योग्यता देखकर, अधिकारियों ने सहारनपुर ज़िले के स्कूलों में, प्रयोग करने

के विचार से, ड्राइङ्ग का विषय सिखाने के लिए विशेष योजना कर दी। परन्तु यह विषय प्रान्त के सब स्कूलों में जारी न हो सका।

प्रत्येक तहसील में ये माडल स्कूल आदर्श रूप से खोले गये थे और यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि यह सब अँशों में आदर्श हो गये थे, परन्तु विद्यार्थी-जीवन की अवधि बढ़ जाने से सारे प्रान्त के बालकों का जीवन अधिक सुखमय अवश्य हो गया था। फिर इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए सांसारिक जीवन की व्यग्रता कुछ काल के लिए तो अवश्य ही स्थगित-सी हो गयी थी। साथ ही अब बालकों को अपने मानसिक-विकास के साधन भी अधिक उपलब्ध हो गये थे। इस पर भी अगर वे अपने दैनिक जीवन में इनका उपयोग नहीं कर सकते थे, तो इसके लिए स्कूलों को कोई दोष नहीं दिया जा सकता था।

लोगों में यह धारणा उत्पन्न हो चली थी कि यह शिक्षा सरकारी नौकरियों की प्राप्ति के लिए बड़ा अच्छा साधन है। यह उन लोगों की भूलों के कारण थी, जिन्होंने अप्राकृतिक साधनों द्वारा बहुत शीघ्र ही विद्याप्रचार करना चाहा था अथवा जिन्होंने ट्रेनिङ्ग प्राप्त अध्यापक अधिक और शीघ्र मिलने के विचार से शिक्षा के प्रति लोगों के भाव बदल दिये थे। जिन लोगों का शिक्षा सम्बन्धी आदर्श बहुत ही ऊँचा था, वे भी इन स्कूलों से थोड़े-बहुत लाभ की आशा अवश्य करने लगे थे और इनकी सफलता देख कर एक समालोचक को यह कहने का साहस

हुआ था कि अगर जनता के नैतिक लाभ के विचार से ही देखा जाय तो देसी स्कूलों को बन्द कर और उन में प्रचलित पुस्तकों का प्रचार रोक कर, सरकार ने बहुत ही थोड़े व्यय से प्रजा के लाभ के साधन उपस्थित कर दिये हैं। इस समय निरीक्षण के खर्च को छोड़ कर हर बालक की शिक्षा पर केवल २॥) रु० वार्षिक व्यय का औसत निकलता था।

देसी पाठशालाओं के बन्द कर देने में जन-साधारण का नैतिक लाभ रहा हो या नहीं, किन्तु विद्या-प्रचारक की दृष्टि से यह निश्चय है कि शिक्षा-क्रम में पहले की अपेक्षा अब बहुत कुछ उन्नति हो गयी थी। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह हुई कि आरम्भ से ही इन स्कूलों की शिक्षा संकीर्ण हो कर केवल पुस्तकों तक ही सीमित हो गयी। विद्यार्थियों को पुस्तकों के विषय के अतिरिक्त बाहर की कोई बात नहीं सिखायी जाती थी। इससे उनमें अपने आस-पास की बातें जानने तक की उत्सुकता नष्ट होने लगी थी। इसीलिए इन स्कूलों का वातावरण कृत्रिम हो गया था।

एक समालोचक ने लिखा था कि इन स्कूलों में पाठ पढ़ाते समय बहुधा ऐसे स्थानों के नाम आ जाते हैं, अथवा ऐसे पुरुषों का प्रसंग आ जाता है, जिनके सम्बन्ध में अगर विद्वान् अध्यापक कुछ विशेष बातें बता कर बालकों की ज्ञान-वृद्धि करा दें तो इससे उनको अनेक उपयोगी बातें मालूम हो जाने का सुअवसर प्राप्त हो जाय तथा उन्हें अपने पाठ में विशेष अभिरुचि उत्पन्न हो जाय। किन्तु इन बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।

उनके सम्बन्ध में अधिक ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता न तो विद्यार्थियों में ही देखी जाती थी, और न अध्यापकों में ही उन्हें प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति रह गयी थी। ऐसी परिस्थिति में अध्यापक अथवा विद्यार्थियों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे पाठ्य-विषय में कोई उत्साह प्रदर्शित करें। परिणाम यह हुआ कि अनेक भावपूर्ण विषयों और रोचक स्थानों की जानकारी भी नीरस, निस्तेज और ऐसे कृत्रिम ढङ्ग से करायी जाने लगी कि स्कूल का सारा वातावरण, अत्यन्त चहल-पहल का होने पर भी, निरीह निर्जीवता का परिचायक हो गया। ऐसी शिक्षा का, जिसका जीवन की प्रगतियों से कोई सम्बन्ध न हो, यह परिणाम अवश्यम्भावी था। इसके अतिरिक्त बिलकुल किताबी शिक्षा होने के कारण किताबों ही में चिपके रहने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता था। परन्तु शिक्षा-प्रणाली के दोषपूर्ण होने के साथ-साथ उपयुक्त अध्यापकों की कमी भी कुछ अंशों तक इसके लिए ज़िम्मेदार थी।

हलकाबन्दी स्कूल

तहसीली स्कूल तो केवल आदर्श मात्र बनाये गये थे। अविद्या के अन्धकार को मिटाने का वास्तविक काम तो गाँवों के देसी मदरसों में हो सकता था और टॉमसन साहब की भी यही योजना थी कि देसी मदरसों की दशा, उनका निरीक्षण कर या उन्हें यदा-कदा सम्मति और पारितोषिक आदि देकर, सुधारी जाय। लेकिन सन् १८५१ में एक ऐसी योजना प्रयोग में लायी

गयी, जिसने देसी स्कूलों का सदा के लिए भाग्य-निर्णय कर दिया। देसी स्कूलों में सुधार की आशा असम्भव समझ कर मथुरा के कलक्टर एलेक्ज़ेण्डर साहब ने नये स्कूल खोलना निश्चित किया। लेकिन गाँव-गाँव में स्कूल खोलना भी तो असम्भव था। इसलिए गाँवों की हलकाबन्दी करके, हर एक हलके में पढ़ने वाले लड़कों की संख्या निश्चित की गयी। फिर उस हलके की जमाबन्दी का भी निश्चय किया गया और उसके आधार पर उसमें रहनेवालों की आर्थिक स्थिति और उनमें शुल्क देने की शक्ति का अनुमान कर लिया गया।

इन स्कूलों में लड़कों के अभिभावकों पर शिक्षा का बोझ न रखने की व्यवस्था की गयी थी। ज़मींदार स्कूलों के ख़र्च का कुछ अंश देने के लिए सहमत थे। चन्दा देने के समय उनके सामने "हैसियत" की बात रखी जाती थी। इसलिए उनसे कहा गया कि वे अपनी-अपनी मालगुज़ारी पर एक रुपया सैकड़ा के हिसाब से स्कूलों के मद में चन्दा दें। लेकिन यह चन्दा अनिवार्य न था और इसका देना बिलकुल लोगों की इच्छा पर निर्भर था। इस प्रकार जब स्कूल चलाने के ख़र्च का पूरा प्रबन्ध हो गया, तब ऐसे गाँव में स्कूल खोला गया, जहाँ उस हलके के सभी गाँवों के लड़कों को स्कूल पास पड़ सके और जहाँ वे लोग निःशुल्क विद्या-लाभ कर सकें। स्कूल के खर्चे के लिए सब मिला कर जितना रुपया ज़मीन्दारों से चन्दे के रूप में वसूल होता था, उतना ही सरकार भी देती थी। सबसे पहले हलकाबन्दी स्कूल परगना

कोसी में मीर इमदादअली की अध्यक्षता में खोला गया था। मथुरा में इस योजना को बड़ी सफलता मिली और अधिकारियों को भी यह योजना बहुत पसन्द आयी, क्योंकि इसमें विशेषतया जनता ही का उद्योग था। कदाचित् दूसरी बात यह भी थी कि इसकी बागडोर पूरी तरह से सरकारी अधिकारियों के ही हाथ में थी।

मथुरा में इनकी सफलता देख कर, पास के ज़िलों के कलक्टरों को भी यह योजना रुचिकर प्रतीत हुई और केवल आठ ज़िलों में ही नहीं, प्रत्युत प्रान्त के अन्य ज़िलों में भी हलकाबन्दी स्कूल खोले जाने लगे और इस प्रकार इनका प्रचार बड़ी तेज़ी के साथ बढ़ने लगा। एक इटावा ज़िले में ही १८१ स्कूल एक वर्ष के भीतर खुल गये, जिनमें ५,१८६ विद्यार्थी विद्या-लाभ करते थे। इन स्कूलों में पढ़ना-लिखना, गणित-पैमाइश, और भूगोल के विषय पढ़ाये जाते थे। प्रारम्भ में योग्यता की दृष्टि से इन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। ए० ओ० ह्यूम साहब ने सन् १८५९ में लिखा था, "ऐसे विद्यार्थियों की संख्या बहुत कम है जो थोड़ी-बहुत हिन्दी पढ़-लिख लेते हों और सादे सवाल हल कर सकते हों। यह बात सत्य है कि कुछ लड़के ऐसे हैं जो अच्छी तरह से हिन्दी अथवा उर्दू लिख-पढ़ लेते हैं, परन्तु इनका औसत सैकड़े पीछे केवल दस ही समझना चाहिए।"

इन हलकाबन्दी स्कूलों से जो लाभ हुआ, वह इस प्रकार प्रकट किया गया है—"इन स्कूलों में पढ़ने के कारण लड़कों को शरारत का मौक़ा नहीं मिलता और कम से कम उन्हें अच्छी

किताबें पढ़ने को तो मिल ही जाती है। बस इससे अधिक इन स्कूलों से कोई और लाभ नहीं है।" शिक्षा की दृष्टि से कम लाभ होने का एक कारण (योग्य शिक्षकों की कमी के वावजूद) यह भी था कि लड़के स्कूलों में पर्याप्त काल तक नहीं रह पाते थे और इसलिए उनकी योग्यता भी अधिक न हो पाती थी।

सन् १८६६-६७ में हलका नं० १ के स्कूलों में प्रवेश पाने वाले २७,१५१ लड़कों में से केवल ४,४९७ लड़के ही ऊँची श्रेणियों में पढ़ते थे। कारण यह था कि निर्धन कृषक अपने बालकों को अधिक समय तक स्कूलों में बैठा कर आर्थिक हानि नहीं सह सकते थे। जिस आयु में वे स्कूल जाने योग्य होते थे, उसी में वे खेतों पर भी काम करने योग्य हो जाते थे। इसलिए उनके पास स्कूलों में जाने का केवल वही समय था, जब कि उनके लिए खेतों में कोई काम रह जाय। इस परिस्थिति में उनमें विशेष योग्यता की आशा करना व्यर्थ था। यदि सरकारी सहायता और सहयोग न होता, तो ये हलकाबन्दी स्कूल भी पुराने मदरसों की तरह शीघ्र ही नष्ट हो जाते। अबुथनाट साहब ने इस बात को स्वीकार किया था कि जहाँ युरोपियन अधिकारियों ने इन स्कूलों के प्रबन्ध में कोई हिस्सा नहीं लिया, वहाँ उनका चलना बहुत मुश्किल हो गया।

देसी मदरसों की अवनति

हलकाबन्दी स्कूल देसी मदरसों के प्रतिद्वन्द्वी थे और इनकी प्रतियोगिता का प्रभाव हानिकारक भी हुआ। देसी मदरसे

शिक्षा-विभाग के बनाये नहीं थे और न इस विभाग का आतङ्क ही इन मदरसों पर अधिक था। इसलिए शिक्षा-विभाग इन मदरसों पर ध्यान नहीं देता था और इनको व्यर्थ समझता था। सन् १८७७-७८ तक तो इन देसी मदरसों के व्यौरे शिक्षा-विभाग के वार्षिक विवरणों में स्थान पा जाते थे, परन्तु इसके बाद इनका देना इस विचार से बन्द कर दिया गया कि वह विश्वसनीय नहीं समझे जाते थे और इन स्कूलों पर सरकारी निरीक्षण भी नहीं था। हलकाबन्दी सरकारी स्कूलों के खुल जाने से जो प्रोत्साहन उन्हें पहले दिया जाता था, वह भी अब बन्द हो गया। सन् १८५७-५८ में ही शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर ने उनके सम्बन्ध में लिखा था, 'ये पाठशालाएँ तो शिक्षालय कहलाने के सर्वथा अयोग्य हैं। इन सब में सुधार की आशा रखना व्यर्थ है। इनमें पढ़ाने वाले अध्यापक भी तो किसी प्रकार हमारे अधीन नहीं हैं।' परन्तु इतना होते हुए भी लोग इन मदरसों को ही पसन्द करते थे और उन्हें अपनाते थे।

इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति व्यक्त करते हुए डाइरेक्टर महोदय लिखते हैं, "हमारे कृषक इस विभाग द्वारा सञ्चालित स्कूलों के लिए १,९०,००० रुपये प्रति वर्ष व्यय करते हैं। अन्य लोकप्रिय स्कूलों को परिचालित रखने में २,६५,००० रुपया वार्षिक व्यय होता है। इतना अधिक खर्च वास्तव में व्यर्थ ही जाता है, क्योंकि इनके अध्यापक अयोग्य हैं और इनमें किसी प्रकार की आयोजना और शिक्षा-क्रम का अभाव है।"

लोग नये सरकारी स्कूलों में अधिक जाने लगे थे क्योंकि उनमें शिक्षा निःशुल्क दी जाती थी। देसी स्कूलों की भी अब इतनी पूँछ न रही थी और अधिक खर्चीले होने के कारण लोग उनको उपेक्षा की दृष्टि से भी देखने लगे थे। शिक्षा-विभाग की ओर से पढ़ाने-लिखाने के सम्बन्ध में लोगों को सभी जानने योग्य बातें बतायी जाती थीं। इसलिए इन नये और निःशुल्क विद्या-प्रदान करने वाले स्कूलों की ओर ही बालक अधिक झुकने लगे थे।

देसी मदरसों की अवनति का एक और कारण भी था। उनके सब योग्य अध्यापक उन्हें छोड़ कर सरकारी स्कूलों में इसलिए पहुँच गये थे कि उन्हें यहाँ वेतन अच्छा मिलता था। सन् १८८२ में शिक्षा-कमीशन के सामने जे० सी० नेस्फील्ड साहब ने अपनी गवाही देते हुए खुले शब्दों में यह स्वीकार किया था कि 'सरकारी शिक्षा-विभाग ने अच्छे से अच्छे देसी मदरसे तो कभी के हज़म कर लिये और अब वे इतने निर्बल कर दिये गये हैं कि जब तक समस्त सरकारी स्कूल बन्द न कर दिये जाँय, तब तक उन्हें सहायता देने अथवा उनकी उन्नति करने की बात करना व्यर्थ ही होगा। मेरे विचार में सरकारी शिक्षा-क्रम ने उन्हें बिलकुल निकम्मा कर दिया है और अब उनके जीर्णोद्धार की कोई आशा नहीं की जा सकती।'

देसी स्कूलों की अवनति इसलिए हुई थी कि एक तो लोग ग़रीबी के कारण दो प्रकार के स्कूलों का भार वहन करने में असमर्थ थे; दूसरे ये मदरसे स्वयम् इस नयी परिवर्तित परिस्थिति

के अनुसार अपने क्रम में समयोचित परिवर्त्तन न कर सके; तीसरे इसलिए भी कि सरकार द्वारा प्रोत्साहित और प्रतिष्ठापित इस नये शिक्षाक्रम के सामने लोगों की निगाह में इनको कोई क़द्र न रह गयी थी। फिर भी डाक्टर जी० डब्लू लिटनर के इन शब्दों में बहुत कुछ तथ्य है :—"थोड़े से नवीन स्कूल खोलने की अपेक्षा यदि सरकार देसी मदरसों की पाठ्य-पुस्तकों तथा अध्यापकों के सुधार की ओर ध्यान देती और इस प्रकार जनता में यह भाव फैलाने का प्रयत्न करती कि शिक्षा-प्रसार को देख-रेख रखना सरकार का काम है (और किसी समाज विशेष का नहीं), तो उन्हें नवीन स्कूलों के इस अधूरेपन के स्थान पर देसी स्कूलों में सुधार करने का बहुत बड़ा सुअवसर प्राप्त हो जाता।"

सन् १८५४ का ख़रीता

बङ्गाल तथा बिहार में एडम साहब की जाँच, मदरास में सर टॉमस मनरो के अनुसन्धान और बम्बई में सर मन्टस्टुअर्ट एलफ़िन्स्टन के दिग्दर्शनात्मक विवरण से शिक्षा-प्रचार की अवस्था गिरती हुई प्रकट हुई। हमारे यहाँ ता सन् १८४४-४५ में टामसन साहब के विवरण से देसी मदरसों की गिरती हुई अवस्था अच्छी तरह प्रकट हो गयी थी। इसी समय देसी मदरसों की ख़राब परिस्थिति के सम्बन्ध में मिशिनरियों ने ऐसा आन्दोलन किया कि अधिकारियों के कान खड़े हो गये। सरकार को जनता में शिक्षा-प्रचार करने की आवश्यकता प्रतीत तो हुई, परन्तु सारी जनता को शिक्षित बनाने के लिए एक साथ विद्यालय

खोलना उसके लिए सम्भव न था। इन विभिन्न प्रान्तों में शिक्षा-सम्बन्धी अनुसन्धानों का सारांश सन् १८५४ के प्रसिद्ध ख़रीते में अङ्कित कर दिया गया है। ख़रीते के लेखक सर चार्ल्स वुड पिछले वाइसराय लार्ड इरविन के दादा थे।

इस ख़रीते ने प्रजा में ज्ञानोत्कर्ष की शुभाकांक्षा उत्पन्न कर दी थी; इसीलिए यह ख़रीता भारत में अँग्रेज़ी शिक्षा का 'स्वाधीनता का शासन-पत्र' कहलाने योग्य है। उदार भावों से ओत-प्रोत लार्ड डलहौज़ी के शब्दों में 'इसमें ऐसी योजना का निरूपण किया गया है, जो अखिल भारत के निमित्त तैयार की गयी थी और जिसे प्रस्तुत करने के लिए प्रान्तीय या भारतीय सरकारें कदाचित् ही साहस कर पातीं।' टॉमसन साहब की प्रतिभा की झलक इस ख़रीते में भी दिखायी पड़ती है। सारी प्रजा में—विशेषतः प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार के लिए—सरकार का ध्यान ऊँची जातियों की ही शिक्षा की ओर से हटा कर जन-साधारण को शिक्षा की ओर आकर्षित करना, इसका चरम उद्देश था। इस नीति का समर्थन ख़रीते के इन शब्दों में किया गया था, 'ऐसी विशाल जनता में, जो बिना किसी सहायता के नाम-मात्र को भी विद्या प्राप्त करने में असमर्थ है, किस प्रकार ऐसी व्यावहारिक और उपयोगी शिक्षा का प्रचार किया जाय जो उसके जीवन की प्रत्येक अवस्था के लिए उपयोगी और अनुकूल सिद्ध हो।'

ख़रीते में लिखा था कि ब्रिटिश सरकार यह चाहती है कि भविष्य में इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, उनकी यह योजना

विशेष रूप से काम में लायी जाय और वे इसके व्यय के लिए अधिकाधिक धन देने के पक्ष में हैं।

इस योजना का उद्देश्य अविद्या को समूल विनाश करने का था और साधारण जनता में विद्या-प्रचार का महत्त्व इसमें स्वीकार कर लिया गया था। जनता को इसमें अग्रसर होने के लिए प्रोत्साहित करने की सिफ़ारिश भी की गयी थी। सरकार की ओर से देसी स्कूलों की सहायता करने का विधान था। इसमें देसी भाषाओं का भी वहिष्कार न किया गया था और संस्कृत तथा फ़ारसी के तत्कालीन विद्यालयों की रक्षा का भी उचित समावेश था। इसमें प्रत्येक प्रान्त में एक-एक शिक्षा-विभाग खोलने की माँग पेश की गयी थी और देशी भाषा में प्रारम्भिक शिक्षा से लगा कर युनिवर्सिटी की बड़ी से बड़ी डिगरी तक की योजना प्रस्तुत की गयी थी। इस ख़रीते में धार्मिक विचारों के प्रति बिलकुल तटस्थ रहने की नीति रक्खी गयी थी।

शिक्षा-विभाग की स्थापना

इस ख़रीते के पहुँचने पर पश्चिमोत्तरी प्रान्त में शिक्षा-विभाग की स्थापना हुई और रीड साहब उसके प्रथम डाइरेक्टर बनाये गये। उनकी अधीनता में चार सर्किल इन्सपेक्टर नियुक्त किये गये और ज़िले तथा परगने के विज़िटर डिप्टी तथा सब-डिप्टी इन्सपेक्टर कहलाने लगे। उस समय के बाबू शिवप्रसाद, जो बाद को राजा हो गये, इन्हीं पहले इन्सपेक्टरों में से थे। ग़दर होने से कुछ ही पहले स्कूलों को सरकारी मदद देने के

नियम बनाये गये, जिनसे तहसीली और हलकाबन्दी स्कूलों को अधिक प्रोत्साहन मिला। १८५६ ई० में टॉमसन साहब की मृत्यु के एक मास बाद ही, उनकी योजना को सारे प्रान्त में प्रसार करने की अनुमति मिल गयी।

हलकाबन्दी स्कूलों की उन्नति के इस विवरण से प्रान्त में प्राइमरी शिक्षा के अधिकाधिक विस्तार का परिचय मिलता है। सन् १८५१ में इन हलकाबन्दी स्कूलों की स्थापना हुई थी और सन् १८५४ ई० में इनकी संख्या ७५८ हो गयी। इनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या उस समय १७,००० थी। सन् १८५५ ई० के प्रारम्भ में हलकाबन्दी स्कूलों की संख्या १,४९१ हो गयी और इनमें पढ़ने वाले छात्रों की भी संख्या बढ़ कर ३४,४२४ हो गयी।

सन् १८५२ ई० में आगरे का नार्मल स्कूल खोला गया। अध्यापकों की माँग अधिक होने से सन् १८५६ ई० में मेरठ में और सन् १८५७ ई० बनारस में भी नार्मल स्कूल खोले गये।

ग़दर का दुष्प्रभाव

'ख़रीते' की योजना के अनुसार कार्य-क्रम को प्रारम्भ हुए अभी तीन वर्ष ही बीतने पाये थे कि ग़दर हो जाने के कारण शिक्षा-प्रचार की उन्नति को भारी धक्का पहुँचा। लेकिन यह एक क्षणिक बाधा थी। कई अधिकारियों को इस विभीषिका में अपने प्राण गँवाने पड़े, किन्तु प्रायः नीचे से लगा कर ऊपर तक के सभी शिक्षा-विभाग के कर्मचारी राजभक्त बने रहे और अपनी-अपनी जगह पर काम करते रहे। ओरियन्टल (फ़ारसी) विभाग

के कुछ अध्यापक अवश्य बाग़ी हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि इन विभागों पर से सरकार का विश्वास उठ गया और अन्ततः ये विभाग बन्द ही कर दिये गये। इस प्रकार पञ्जाब की भाँति अँग्रेज़ी के समकक्ष रूप में, प्राइमरी से लेकर युनिवर्सिटी कक्षाओं तक देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा-क्रम की उन्नति की सम्भावना बिलकुल जाती रही। हमारे यहाँ तो तहसीली स्कूल ही एक ऐसी संस्था रह गये, जिनमें देशी भाषाओं के माध्यम द्वारा ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जा सकती थी।

सन् ५७ का ग़दर उस समय के मृतप्राय राज्यों की बुझती हुई अन्तिम ज्योति के समान था। इन राज्यों ने अपनी खोयी हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से जी तोड़ कर यह अन्तिम प्रयत्न किया था। इसमें उस असन्तोष की लहर से भी कुछ सहायता मिल गयी थी, जिसकी ज़िम्मेदारी कुछ अंश में सरकार पर भी थी। किन्तु अन्त में इस भयानक घटना से एक अच्छी बात यह हुई कि सदा के लिए देश के भविष्य का निर्णय हो गया। लोगों को इसका पूरा-पूरा अनुभव हो गया और उनमें अन्तरध्ययन की प्रेरणा जाग उठी। अन्त में वे लोग भी, जो इस नये राजनीतिक परिवर्तन से यत्किंचित असन्तुष्ट थे, यह विचार करके कि अन्यथा गति नास्ति, अनिवार्य के सामने नतमस्तक हो गये। सहज-विश्वासी लोगों को यह विश्वास हो गया था कि अब सौ वर्ष पहले कोई नया परिवर्तन न होगा और वे उदीयमान सूर्य को अभिवादन करने के लिए व्याकुल हो उठे।

इन लोगों में एक किम्वदन्ति प्रसिद्ध हो गयी थी कि जिस प्रकार १७५७ ई० के पलासी-युद्ध के बाद १८५७ ई० में ग़दर हुआ, उसी प्रकार १९५७ ई० में वड़े भारी क्रान्तिकारी परिवर्तन की सम्भावना है। ग़दर के वाद एक-दो वर्ष तो, हथियार छीने जाने के कारण, लोग रुष्ट थे, लेकिन इसके वाद से शिक्षा-विभाग का पथ विलकुल निष्कंटक हो गया और असहयोग के समय तक ऐसा ही रहा।

सन् १८५९ का द्वितीय ख़रीता

लेकिन सन् १८५६-५७ ई० की घटनाओं को लेकर इस नवीन शिक्षा-क्रम के सम्बन्ध में व्यर्थ की अनेक भयास्पद वातें फैलायी गयीं। जिन लोगों ने सन् १८५४ के ख़रीते के सिद्धान्तों के विरुद्ध अपनी सम्मति दी थी, उन्होंने अब ग़दर के होने का दोषारोपण भी इस शिक्षा-क्रम पर लाद दिया। फलतः विलायत की सरकार ने ख़रीते के कार्यक्रम की अच्छी तरह से छानवीन की। यह इसलिए थी कि जनता में हाल ही में प्रयुक्त होने वाले जो विधान सरकार ने प्रस्तुत किये थे, उन्हें वङ्गाल के सैनिक-विद्रोह का कारण समझा गया था। वृटिश शासनाधीन अन्य भारतीय विभागों में भी भय और शङ्का के जो भाव मौजूद थे, वह भी इसी के कारण समझे गये थे।

इस छानवीन के वाद सन् १८५९ में एक दूसरा ख़रीता प्रकाशित किया गया। इसमें पिछले ख़रीते के काम की आलोचना की गयी थी और उपरोक्त भ्रमपूर्ण अभियोग को ग़लत ठहराया

गया था। इस खरीते में भी १८५४ ई० के खरीते के सिद्धान्तों और मन्तव्यों का पोषण किया गया था। इसमें एक नयी बात यह थी कि प्राइमरी शिक्षा के प्रचार में सरकारी सहायता की सिफ़ारिश का समर्थन नहीं किया गया था। क्योंकि इसके द्वारा निर्धन लोगों पर आर्थिक बोझ अधिक हो जाता था। इससे शिक्षा के प्रति विरोधात्मक भावों के फैलने का भय था और यह भी आशङ्का थी कि ऐसा करने से कहीं सरकार बदनाम न हो जाय। सरकार की प्रतिष्ठा का प्रश्न भी इसमें निहित था। इसमें सन्देह नहीं कि जिस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार इतनी उत्सुक थी, उसी के लिए सरकारी कर्मचारियों का साग्रह चन्दा माँगना और उस प्रयत्न में असफल होना सरकार के आत्मसम्मान को ठेस पहुँचाने वाला था। इसी अभिप्राय से सरकारी अधिकारियों द्वारा प्राइमरी शिक्षा-प्रचार करने की व्यवस्था की गयी थी और उसके व्यय के लिए एक प्रकार का टैक्स लगाने की सिफारिश की गयी थी।

शिक्षा-कर

तहसीली स्कूलों का व्यय-निर्वाह तो प्रान्तीय सरकार की मालगुजारी से ही होता था, लेकिन हलकाबन्दी स्कूलों का खर्च हलके में एकत्र किये हुए शिक्षा-कर द्वारा चलता था। टॉमसन साहब ने गाँव के स्कूलों के खर्च के लिए गाँव-गाँव में जागीर दिलाने की सिफ़ारिश की थी, लेकिन यह बात विलायत की सरकार को मंजूर न थी। जब हलकाबन्दी-क्रम का श्रीगणेश किया गया,

तब जमींदारों ने अपनी मालगुज़ारी में से एक रुपया फ़ी सैकड़े के हिसाब से हलकाबन्दी स्कूलों के ख़र्चे के लिए चन्दा देना स्वीकार किया।

शिक्षा-कर का पूर्व रूप

सन् १८५० में सरकार ने भी इन ग्रामीण पाठशालाओं के ख़र्च में जमींदारों द्वारा एकत्र की हुई रक़म के बराबर धन देना अङ्गीकार किया। ग्रामीण-शिक्षा के व्यय में जमींदार और सरकार का आधा साझा हमारे प्रान्त के सिवा कहीं न था। सहारनपुर के बन्दोबस्त की योजना में इसके निर्देश के लिए नियम बना दिये गये थे। इन नियमों द्वारा यह निश्चित किया गया था कि ज़मीन की पैदावार की क़ीमत का अधिक से अधिक ५० फ़ी सदी भाग सरकारी मालगुज़ारी में दिया जाना चाहिए। लेकिन सरकारी मालगुज़ारी निश्चित करने के पूर्व ही शिक्षा-कर काट लेने की व्यवस्था की गयी थी। इस प्रकार शिक्षा का भार ज़मींदार और सरकार पर बराबर-बराबर हो जाता था। कहने को तो यह शिक्षा-कर ज़मींदार की इच्छा पर निर्भर था, लेकिन व्यवहार में इसे अदा करना सब के लिए अनिवार्य था। परन्तु इस शिक्षा-कर की वसूलयाबी अनिश्चित थी और प्रान्तीय लाट मिस्टर एडमन्स्टन साहब ने यह व्यवस्था दी थी कि जिन लोगों पर शिक्षा-कर बकाया रह गया था, उनसे उसकी ज़बर्दस्ती वसूली अनियमित थी।

कुछ अन्य कारण ऐसे भी थे, जिनसे पहले तो इस विचार में कुछ परिवर्तन हुआ कि शिक्षा-कर का देना लोगों की इच्छा पर निर्भर था, परन्तु बाद में इस कल्पना का पूरा विस्फोटन हो गया। सन् १८५० के ख़रीते में प्रारम्भिक शिक्षा के खर्च के लिए अनिवार्य कर वसूल करने की व्यवस्था मौजूद थी। इस विचार से न तो यह जमींदार की इच्छा पर ही निर्भर था कि वह इस कर को अदा करे और न इस बात का ही कोई प्रबन्ध था कि सरकार उसके साथ इसमें आधा-साझा करे। परन्तु हमारे प्रान्त में ये दोनों बातें मौजूद थीं। आर्थिक दृष्टि से भी इस प्रश्न पर विचार करना महत्त्व की बात है। क्योंकि अगर सरकार के ज़िम्मे इसका आधा भाग रहता है तो सारे प्रान्त में शिक्षा-कर लगाने पर सरकार की ओर से मिलने वाले हिस्से का भार बहुत अधिक बढ़ जाता है।

शिक्षा-कर का मालगुज़ारी में जोड़ा जाना

इसलिए सरकार ने सन् १८६६ में यह घोषित कर दिया कि तत्कालीन बन्दोबस्त के हिसाब से जमीन की उत्पत्ति का ५५ प्रतिशत भाग लगान में लिया जायगा। इसी में सड़क, पुलिस और शिक्षा आदि के अन्य कर भी सम्मिलित थे। लेकिन इन सब करों को एक साथ लगान में मिला कर वसूल करने का आयोजन करते समय सरकार ने ऐसी कोई विवेचना नहीं की थी जिससे ज़मींदारों को इसके खर्च पर नियन्त्रण करने का अधिकार दे दिया हो और न ही उनके ऐसे किसी प्रकार के अधिकार

के संरक्षण का ज़िम्मा लिया था जो उन्हें पहले ऐसे छोटे-छोटे करों के सम्बन्ध में प्राप्त हुए बतलाये जाते थे। ये छोटे कर तो वह अब भी पहले की भाँति अपनी जेब से देते थे, किन्तु अब अन्तर केवल इतना ही हो गया था कि जहाँ पहले सरकार को उसके बराबर की रक़म देनी पड़ती थी, वहाँ अब केवल ज़मींदार के ही सिर पर सारे ख़र्चे का भार था। इससे स्पष्ट है कि जो शिक्षा-कर पहले उसकी इच्छा पर निर्भर था और चन्दे की भाँति वसूल किया जाता था, वही अब निर्धारित और निश्चित टैक्स के रूप में परिवर्तित हो गया था।

इस समस्या का दूसरा स्वरूप प्रजा का परिवर्तित दृष्टिकोण था। जहाँ तक कृषि-वर्ग का सम्बन्ध था, शिक्षा-कर अब स्थानीय कर नहीं रह गया था, जिसका देनदार ज़मींदार हो। अब तो जो ख़र्च देहाती स्कूलों पर होता था, उसे ज़मींदार सरकारी सहायता समझता था और इसी कारण उसे इस रुपये पर किसी प्रकार के नियन्त्रण का कोई हक़ प्राप्त न हो सकता था। साथ ही साथ अब इस कर का स्थानीयपन भी नष्ट हो गया था, क्योंकि अब तक तो यह रुपया उसी स्थान के स्कूल के ही उपयोग में आ सकता था, परन्तु अब तो इसका उपयोग सारे प्रान्त की प्रजा के लिए था, जिसमें तहसीली और अन्य प्रकार के सभी स्कूलों का साझा था।

इस प्रकार इस नयी व्यवस्था के कारण ज़मींदार और देहाती स्कूल में जो परस्पर सम्बन्ध स्थापित हुआ था, वह टूट गया।

इस्तमरारी बन्दोबस्त के ज़िलों में शिक्षा-कर

ज़मींदार लोगों ने इस परिवर्तन को बिना किसी आनाकानी के मान लिया। इससे ज़ाहिर है कि उनको भी इस शिक्षा-कर के अनिर्धारित स्वरूप में अधिक विश्वास न था। जिन प्रदेशों में ज़मीन का बन्दोबस्त निश्चित समय के लिए होता था, उनमें ऐसे बन्दोबस्त के समय इस नये कर का लगा देना आसान था, परन्तु जिन ज़िलों में इस्तमरारी बन्दोबस्त था, वहाँ इस शिक्षा-कर के लगाने में बड़ी कठिनाई थी। परन्तु फिर भी बनारस कमिश्नरी के उन चार ज़िलों में, जिनमें इस्तमरारी बन्दोबस्त जारी है, ज़मींदार लोग इस बात पर राज़ी हो गये कि वे गवर्नमेन्ट को अपने लगान की रक़म का आधा प्रतिशत इस शर्त पर दे देंगे कि सरकार ख़ुद भी आधा प्रतिशत दे। सन् १८६६ ई० में गवर्नमेन्ट ने इस शर्त को मंजूर कर लिया और इस प्रकार सारे प्रान्त के जमींदार ग्रामीण शिक्षा के लिए कर देने लगे।

शिक्षा-कर के नियन्त्रण के लिए जमींदारों की माँग

शिक्षा-कर का देना ज़मींदारों की इच्छा पर निर्भर था, इसी लिए बहुत से जमींदारों ने इस बात की माँग पेश की कि उनको इस फंड के नियन्त्रण का भी अधिकार मिलना चाहिए। चुनाँचे अलीगढ़ के जमींदारों ने प्रान्तीय सरकार के पास इस आशय का एक मिमोरियल (प्रार्थनापत्र) भेजा। यह प्रार्थना-पत्र अलीगढ़ साइन्टिफ़िक सोसाइटी की ओर से पेश किया गया था,

जिसके मंत्री राजा जयकृष्णदास थे। यह स्वयम् भी ज़मींदार थे और ग़दर के ज़माने की इनकी विशेष सेवाएँ थी। इसलिए यह गवर्नमेन्ट के भी विश्वास-पात्र थे और ज़मींदारों का भी इन पर पूरा भरोसा था।

इस मिमोरियल में इस बात की शिकायत की गयी थी कि 'शिक्षा के ख़र्च के लिए शिक्षा-कर तो ज़मींदारों से वसूल किया जाता है, परन्तु यह बड़े ताज्जुब की बात है कि न तो उन्हें इस शिक्षा-क्रम के प्रबन्ध में ही कोई अधिकार दिया गया है, और न इस रुपये के ख़र्च पर ही उनका कोई नियन्त्रण है। इसलिए उनको यह जान कर बड़ा कष्ट है कि इस सम्बन्ध के किसी विषय में भी उनसे सलाह-मशवरा नहीं लिया जाता और इतना सब रुपया देने पर भी उनको यह भी नहीं बतलाया जाता कि उसे किस प्रकार और किन-किन मदों में ख़र्च किया जा रहा है। इसलिए उनकी यह प्रार्थना थी कि जो रुपया वे शिक्षा-कर के रूप में सरकार को देते थे, और जो रुपया सरकार शिक्षा की सहायतार्थ देती थी, उस सब को मिलाकर एक अलग शिक्षा-फंड बना दिया जाय, जो केवल उसी ज़िले की प्रजा के हित के लिए ख़र्च किया जाय, जिनसे उसका रुपया वसूल किया गया था। इस मिमोरियल में यह भी प्रार्थना की गयी थी कि ज़िले के शिक्षा-विभाग के कर्मचारी और ज़मींदारों की एक ऐसी कमिटी बनायी जाय, जिसका अध्यक्ष ज़िले का कलक्टर या कमिश्नर हो और जो इस शिक्षा-क्रम की पूरी

देख-रेख तथा उसके खर्च का पूरा नियन्त्रण कर सके और इस कमिटी के अधिकार में उस जिले की शिक्षा का पूरा भार हो।'

अलीगढ़ के ये जमींदार काफ़ी सुशिक्षित थे और अपने स्वत्त्वों और अधिकारों का ज्ञान रखते थे। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उन्होंने अपने अधिकारों की माँग पेश की, परन्तु इसकी महत्ता तो इस बात में है कि यह प्रार्थना-पत्र प्रजा की उस स्पष्ट इच्छा का सब से पहला उदाहरण है जो उसने उस विभाग के प्रबन्ध में भाग लेने के लिए सब से पहले प्रकट की, जिसके लिए उसने स्वयम् रुपया दिया था। इस माँग की वैधता बड़े मार्के की थी और सरकार को इस बात के समझने में अधिक देर न लगी कि हवा का रुख किस ओर था। यद्यपि हमारी सरकार इस बात का स्वागत करने के लिए तैयार थी कि हमारे यहाँ के जमींदार और तालुक़ेदार अपने उस दबाव को अधिकाधिक काम में लाने के लिए आन्दोलन खड़ा करें जो उनको प्राप्त है और साथ ही शासन-प्रबन्ध के साधारण कामों में इन लोगों की सहकारिता और इनकी सहानुभूति का आदर करने को भी तैयार थी, फिर भी उसे इस बात के अन्देशे को दूर करने की शीघ्र ही कोशिश करनी पड़ी कि वे उस बात की प्राप्ति के लिए अपना अधिकार प्रदर्शित करें जिसे कुछ हद तक और कुछ विशेष कारणों से वह उनको स्वयम् देने के लिए तैयार थी।

सरकार का रुख

इसलिए सन् १८६६ के अपने एक मन्तव्य में सरकार ने यह प्रकट किया कि हमारे सामने इस बात की शिकायत की गयी है कि जो लोग शिक्षा के खर्च के लिए धन देते हैं, उनको उस पद्धति के प्रबन्ध में कोई अधिकार नहीं दिया गया है, अथवा उस रुपये के व्यय पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं है। परन्तु यही तर्क इस देश के शासन के सम्बन्ध में तथा मालगुजारी और अन्य टैक्सों के व्यय और उनके नियन्त्रण पर भी लागू हो सकता है। इसलिए इस तर्क के सार्थक परिणाम को स्वीकार करते हुए उस समय के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर ने कहा, "इस शिकायत का एक ही जवाब हो सकता है और वह यह है कि इसके पूर्व कि लोगों को शासन-प्रबन्ध के नियन्त्रण में कोई अधिकार दिया जाय, उन्हें इस बात को प्रमाणित करना होगा कि वे इन अधिकारों और इस उत्तरदायित्व के योग्य भी हैं या नहीं क्योंकि इसी योग्यता को उनमें उत्पन्न करने के लिए सरकार ने शिक्षा-प्रचार के ये साधन उनके लिए उपस्थित कर दिये हैं।"

शिक्षा-कर के सम्बन्ध में गवर्नमेन्ट ने यह घोषित कर दिया कि यह कर सारी प्रजा के हित के लिए लिया जायगा और सरकारी मालगुजारी में, जो पृथिवी की उपज की निखर्ची आय पर ५५ प्रतिशत देनी निश्चित हुई थी, यह कर भी शामिल कर लिया गया है। इस प्रकार शिक्षा-सम्बन्धी-व्यय भी मालगुजारी से ही दिया जाना निश्चित हुआ और इसलिए

जमींदारों को उसके प्रवन्ध अथवा नियन्त्रण में किसी प्रकार के अधिकार का प्रश्न एक क्षण के लिए भी उपस्थित नहीं हो सकता था।

स्कूल-कमिटियों की स्थापना

इस प्रकार इस मिमोरियल के वैध अंश का उत्तर दे कर सरकार ने इस वात की आवश्यकता महसूस की कि ज़िले के अफ़सरों, जमींदारों और अन्य धनी-मानियों को भी स्कूलों के प्रवन्ध में कुछ अधिकार दिया जाय, ताकि वे इन संस्थाओं की उन्नति में अधिक योग दे सकें। इस विचार से सरकार ने कुछ ज़िलों में शिक्षा-कमिटियाँ नियुक्त कर दीं और यही कमिटियाँ कुछ समय वाद सारे प्रान्त में नियुक्त हो गयीं।

मिस्टर टॉमसन ने इस बात की घोषणा की थी कि सरकार अपने निजी स्कूल स्थापित न करके, प्रजा को इस वात में सहायता देने को तैयार थी कि वह स्वयम् अपने स्कूल स्थापित करे। लेकिन यह सब कहते हुए भी गवर्नमेन्ट ने ज़मींदारों की उस विशिष्ट माँग को जिससे उनका पूरा-पूरा सहयोग प्राप्त होता, स्वीकार न करके, एक वड़ा अच्छा अवसर खो दिया। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी याद रखना चाहिए कि धन-कोष पर अधिकार पाये वग़ैर शिक्षा-विभाग को अपनी मान-मर्यादा स्थापित करना और उसे बनाये रखना कठिन हो जाता। अव तो यह वात अनुभव से स्पष्ट हो गयी है कि अगर शिक्षा-विभाग के इन्सपेक्टरों के हाथ में से यह अधिकार ले लिये जाँय तो

उनकी मर्यादा और यहाँ तक कि उनकी उपयोगिता भी शीघ्र ही जाती रहेगी। एक ग़ैर-सरकारी स्कूल के योग्य मन्त्री ने मुझसे एक बार कहा था कि उन लोगों की निगाह में इन्सपेक्टरों का मान केवल इसीलिए था कि उनके हाथ में धन का अधिकार था।

स्कूल-कमिटियों की असफलता

इस परिस्थिति में जो स्कूल कमिटियाँ बनायी गयी थीं, उनमें उन्नतिशील जमींदारों को कोई आकर्षण न रह गया था। कुछ लोगों का यह भी विचार हो गया था कि उनसे रुपया अधिक लेने के लिए यह चाल चली गयी थी। इन कमिटियों के सदस्यों के कर्त्तव्य भी निश्चित न थे और इसलिए लोग यह समझने लगे थे कि इन कमिटियों में शामिल होने के लिए ज़िले में जाना व्यर्थ का कष्ट और फ़िजूल का ख़र्च उठाना था। इस प्रकार कुछ लोगों की उदासीनता, कुछ का तिरस्कार, कुछ की असहकारिता, और कुछ लोगों के अहंकार—इन सब बातों से एक तो कमिटियाँ बनना ही कठिन हो गया था और फिर उनमें काम करना तो बिलकुल ही असम्भव हो गया। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि सरकार को भी इस बात की रिपोर्ट मिली कि अलीगढ़ के जमींदारों ने, जिनके इशारे से यह कमिटियाँ बनायी गयी थीं, उनमें किसी प्रकार का सहयोग नहीं दिया।

नयी कमिटियों का रुख़

सन् १८७१ ई० में एक क़ानून पास हुआ जिसके द्वारा, लोगों की आमदनी के अनुसार, हर ज़िले की शिक्षा के लिए एक टैक्स

नियत किया गया और इसकी आय से सारे प्रान्त के लिए एक कोष स्थापित करके हर ज़िले में एक कमिटी नियुक्त की गयी। इसको यह काम सौंपा गया कि वह इस कोष में से उस ज़िले के लिए जितना रुपया खर्च के लिए दिया गया था, उसका नियन्त्रण करे। इस कमिटी ने कई उपसमितियाँ बनायीं जिनमें से एक का नाम शिक्षा-समिति रखा गया। यह कमिटी १८६६ ई० में बनायी हुई कमिटियों के स्थान पर थी। इन नयी शिक्षा-समितियों का अधिकार पूरे ज़िले पर था और इनमें सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए ज़मींदार सदस्य बनाये गये थे। इन कमिटियों को अध्यापकों की नियुक्ति करने, उनको बरखास्त करने तथा अन्य प्रकार से दण्ड देने का अधिकार दिया गया था और इनका कार्य था कि वे स्कूलों की इमारतों की देख-रेख रखें और गवर्नमेन्ट की मंजूरी के लिए अपने ज़िले की शिक्षा के खर्चे का बजट बनायें।

इस बजट में उन्हें खर्चे की हर मद का ब्यौरा देना पड़ता था और इस खर्चे के लिए नियम भी बड़ी कड़ाई से बनाये गये थे। इसके सम्बन्ध में १८८३ ई० की शिक्षा-कमिटी की रिपोर्ट में लिखा है, "यह सत्य है कि औरङ्गज़ेब के शासनकाल के बाद १८७४ ई० में संयुक्त-प्रान्त में शासन का केन्द्रीकरण अपनी अन्तिम अवस्था को पहुँच गया था, लेकिन उस समय की कमिटियों के अधिकारों पर जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे, उनको ढीला करने के लिए, बड़े ज़ोरदार अधिकारी

की आवश्यकता है और इसीलिए वे अभी तक शिथिल नहीं पड़े हैं।"

अवध के स्कूलों के इन्सपेक्टर मिस्टर जे० सी० नेस्फ़ील्ड की राय में इन प्रतिबन्धों के कारण शिक्षा-विभाग के दैनिक काम में बहुत अड़चन पड़ती थी। कार्य-सञ्चालक समिति के कामों पर तो इन कमिटियों को नियन्त्रण प्राप्त होना चाहिए ही था, लेकिन इनके सुपुर्द सञ्चालन का सारा काम किया गया था। फिर इन्हें रुपये-पैसे के ख़र्च का कोई अधिकार न देकर, शिक्षा-विभाग के सामने उत्तरदायी बना दिया गया था। इसीलिए ये बिलकुल असफल प्रमाणित हुईं।

सन् १८८२ की अवस्था

१८८२ ई० के शिक्षा-कमीशन की जाँच के समय हमारे सूबे में सरकार द्वारा स्थापित ५,३२९ प्राइमरी और ४५५ मिडिल स्कूल मौजूद थे। सन् १८५० ई० में केवल ८ ज़िलों में प्रयोग की दृष्टि से स्थापित करके तहसीली और हलक़ाबन्दी पद्धति के स्कूल भी सारे सूबे में फैल गये थे और अब इस समय यह मालूम करना असम्भव हो गया है कि इनमें से कितने देहातों में थे और कितने क़स्बों में थे। देसी स्कूलों को सरकारी इमदाद न देने की नीति इतनी अधिक सफल हुई थी कि इस समय केवल ५६ प्राइमरी और ७ तहसीली इमदादी मिडिल स्कूल थे। ग़ैर इमदादी देसी पाठशालाओं का अब कोई ब्यौरा नहीं मिलता। प्राइमरी स्कूलों में यह नियम बना दिया गया था कि

बालकों से कोई फ़ीस न ली जाय। इनमें लिखना-पढ़ना, हिसाब और इतिहास-भूगोल, सफ़ाई और आरोग्य तथा आरम्भिक पैमाइश के विषय पढ़ाये जाते थे। कुछ प्राइमरी स्कूलों में पटवारी के काग़ज़ात पढ़ना भी सिखाया जाता था। इस समय सरकार द्वारा स्थापित लोअर और अपर प्राइमरी परीक्षाएँ ली जाती थीं और मिडिल स्कूलों के लिए शिक्षा-विभाग द्वारा निर्धारित मिडिल की परीक्षा का सारे प्रान्त में प्रचार हो गया था। इन स्कूलों में साज़-सामान और शिक्षा-सम्बन्धी उपकरणों की बहुत कमी थी, परन्तु कुछ कमिटियाँ अपने स्कूलों के लिए इमारतें अवश्य बनवाने लगी थीं। अब रजिस्टर भी ठीक-ठीक रखे जाने लगे थे और शिक्षा-सम्बन्धी आँकड़े भी अधिक विश्वसनीय तैयार होने लगे थे। इन स्कूलों में लड़कों की उपस्थिति में भी बहुत कुछ उन्नति हुई थी। कुमाऊँ की कमिश्नरी को छोड़ कर सूबे की प्रायः हर कमिश्नरी में एक-एक नार्मल स्कूल खुल गया था जिसमें मिडिल पास विद्यार्थी भरती किये जाते थे। इस प्रकार योग्य अध्यापक प्राप्त होने लगे थे और हलकाबन्दी स्कूलों के प्रायः ५० प्रतिशत अध्यापक ट्रेनिंग-प्राप्त थे। प्राइमरी स्कूलों के अध्यापकों को ५) से १२) तक और तहसीली स्कूलों के अध्यापकों को १०) से लेकर २०) तक मासिक वेतन मिलता था।

पाँचवाँ अध्याय

सन् १८८२-८३ का शिक्षा-कमीशन

सन १८५४ के खरीते में भारत की सरकार को यह आदेश दिया गया था कि वह और सब बातों को छोड़ कर पहले भारतवर्ष के जनसमुदाय में प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार करने के लिए उद्योग करे। यह इसलिए कि यहाँ की जनता बिना किसी बाहरी सहायता के अपने निजी उद्योग से किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ थी। इस निर्देश में माध्यमिक और उच्च शिक्षा को यों ही छोड़ दिया गया था, क्योंकि यह मान लिया गया था कि उनके लिए पर्याप्त सुविधाएँ मौजूद हैं और उनमें वृद्धि करने की आवश्यकता नहीं है। माध्यमिक शिक्षा के प्रोत्साहन के लिए इमदाद देने की सिफ़ारिश तो की गयी थी परन्तु उसकी प्राप्ति के लिए सरकार के द्वारा कोई सीधा प्रबन्ध न था। क्योंकि उस वक़्त यह विचार किया गया था कि उस समय की उच्च-शिक्षा प्रदान करने वाली गवर्नमेन्ट पाठशालाओं को भी जन-साधारण की संस्थाओं को दे दिया जाय।

१८५४ ई० के खरीते पर कितना अमल हुआ

सन् १८५४ के खरीते में इङ्गलैण्ड की सरकार ने इस बात की रज़ामन्दी दे दी थी कि वह प्रजा में शिक्षा-प्रचार के लिए

काफ़ी खर्चा देने को तैयार थी, लेकिन ऐसा कहा जाता है कि हमारे यहाँ तो इसका उलटा ही प्रभाव हो रहा था। माध्यमिक और उच्च शिक्षा-प्रचार में तो बहुत अधिक ख़र्च हो जाता था, किन्तु प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार में आवश्यक धन भी ख़र्च नहीं होता था। इस सम्बन्ध में डाक्टर टॉमस लिखते हैं कि सन् १८५४ में हाई स्कूल, कालेज और अन्य सब स्कूलों को मिला कर उच्च शिक्षा पर गवर्नमेन्ट जितना रुपया ख़र्च कर रही थीं, अब सन् १८८१-८२ में (अङ्गरेज़ी मिडिल स्कूलों का खर्च छोड़ कर) उससे भी ५ लाख रुपया अधिक उच्च शिक्षा-प्रचार में ख़र्च किया जा रहा था। संयुक्त प्रान्त में जहाँ सन् १८५४ में सरकार प्राइमरी शिक्षा पर केवल ५०,००० रुपया ख़र्च करती थी, वहाँ सन् १८८२ में प्रान्तीय आमदनी से ८,५९,५१२ रुपये ख़र्च किये गये थे। लेकिन वर्नाक्युलर प्राइमरी और मिडिल शिक्षा पर, इन्सपेक्टरी की मद का ख़र्च छोड़ कर, केवल १,२०,३८० रुपया या प्रायः १५ प्रतिशत ही ख़र्च हुआ था।

लड़कों के लिए अङ्गरेज़ी प्राइमरी स्कूलों पर (जो बहुधा शहरों में खुले हैं) गवर्नमेन्ट ८५ हज़ार रुपये से अधिक ख़र्च करती थी, परन्तु देहातों के देसी प्राइमरी स्कूलों पर केवल ७० हज़ार रुपया ही ख़र्च होता था। इस प्रकार यद्यपि १८५४ के ख़रीते के अनुसार गवर्नमेन्ट का यह विचार था कि वह जनसमुदाय की शिक्षा पर ही शिक्षा-सम्बन्धी व्यय की मद का सबसे बड़ा अंश ख़र्च करेगी, परन्तु हमारे प्रान्त में वास्तव में उसका

केवल १५ प्रतिशत ही खर्च होता था। और उस शिक्षा पर, जिसको इस खरीते की सिफ़ारिशों के अनुसार स्वावलम्बित होना चाहिए था, गवर्नमेन्ट का अधिक से अधिक रुपया खर्च होता था। इस प्रकार युनिवर्सिटी शिक्षा पर गवर्नमेन्ट का १ लाख, २० हज़ार से कुछ अधिक रुपया खर्च होता था। प्रारम्भिक शिक्षा के खर्च से यह कुछ ही कम था। इससे स्पष्ट है कि वास्तव में इस खरीते की सिफ़ारिशों का बिलकुल उल्लंघन हो रहा था।

शिक्षा-प्रचार की मन्द उन्नति

लेकिन शिक्षा पर खर्च की कमी लोगों को इतनी अधिक नहीं अखरती थी, जितनी शिक्षा-प्रचार की धीमी प्रगति। सन् १८७०-७१ में भारतवर्ष के स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या १९ लाख थी। यही संख्या सन् १८८२-८३ में २६ लाख ५० हज़ार हो गयी, अर्थात ७० हज़ार के हिसाब से प्रति वर्ष वृद्धि हुई। लेकिन स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाने योग्य बालकों की संख्या २ लाख प्रति वर्ष के औसत से बढ़ रही थी। इससे साफ़ ज़ाहिर है कि स्कूल न जाने वाले लड़कों की संख्या का अनुपात प्रति वर्ष बढ़ता चला जाता था। इसके साथ ही साथ दूसरी बात यह भी थी कि सरकारी स्कूलों की इमारतें, वहाँ की शिक्षा के साधन और वहाँ के अध्यापकों की योग्यता आदि सभी बातें ग़ैर सरकारी स्कूलों की अपेक्षा अधिक आकर्षक

और उच्च कोटि की थीं और इसीलिए प्रतिस्पर्द्धा में ग़ैर-सरकारी स्कूल बहुत पिछड़े हुए थे।

गवर्नमेन्ट की इस नीति से सबसे अधिक हानि मिशनरियों को सहन करनी पड़ी। इसमें सन्देह नहीं कि यत्र-तत्र हिन्दुस्तानियों द्वारा सञ्चालित स्कूल भी चल रहे थे, लेकिन ऐसे स्कूलों में मिशन स्कूलों की संख्या ही अधिक थी। देसी ग़ैर-सरकारी स्कूलों की बनिस्बत मिशन स्कूलों के लिए बाज़ी मार ले जाना भी सरल था, क्योंकि उनके यहाँ युरोपियन और अमेरिकन शिक्षक होने के कारण पढ़ाई के उत्तम साधन मौजूद थे। उनके यहाँ का प्रबन्ध भी बढ़िया था और उनके पास पर्याप्त धन होने के कारण उनकी धाक भी खूब जमी हुई थी। उन्हें अब यह भी आशा हो रही थी कि सरकारी अँगरेज़ी स्कूल भी शीघ्र ही उनके अधिकार में आ जायँगे; क्योंकि उच्च शिक्षा-प्रचार में सर्वेसर्वा बनने में केवल सरकारी स्कूल ही उनके लिए बाधक थे। इस बाधा को दूर करने के अन्तरङ्ग उद्देश्य से उन्होंने शिक्षा-विभाग के विरोध की शिकायत करनी शुरू की। यह आन्दोलन पहले भारतवर्ष में शुरू किया गया, परन्तु जब उन्होंने उसमें सफलता होते न देखी तो उसे विलायत में भी शुरू किया।

सन् १८७८ ई० में लंदन में 'जनरल काउन्सिल आफ़ एजूकेशन इन इण्डिया' नामक संस्था स्थापित हुई। इसके सदस्यों में सन् १८५४ के खरीते के लेखक लार्ड हैलीफ़ैक्स तथा अन्य गण्यमान्य व्यक्ति भी सम्मिलित थे। रेवरेंड जेम्स जानसन

साहब इस संस्था के मन्त्री थे। इस संस्था ने अनेक प्रभावशाली मनुष्यों की सहानुभूति भी प्राप्त कर ली थी और जब सन् १८८० में लार्ड रिपन की नियुक्ति भारत के वाइसराय के पद पर हुई तो उस समय इस संस्था ने लार्ड रिपन को एक अभिनन्दन पत्र भी प्रदान किया था। इस पत्र में सन् १८५४ के खरीते का पालन न हो सकने की शिकायत भी की गयी थी। इसके उत्तर में लार्ड रिपन ने उक्त संस्था को आश्वासन देते हुए कहा था कि भारत में पहुँचने पर वे इस मामले की छानबीन करेंगे। इस प्रकार सन् १८८२ में सर विलियम हन्टर के सभापतित्व में एक शिक्षा-कमीशन नियुक्त हुआ। इस कमीशन में मिशनरी सभासद काफ़ी संख्या में थे। वङ्गाल के सर भूदेव मुकर्जी और हमारे प्रान्त के जस्टिस महमूद जैसे योग्य हिन्दुस्तानियों की भी नियुक्ति इस कमीशन पर हुई थी।

इस कमीशन की नियुक्ति ने देश में एक नया जोश पैदा कर दिया। इसके सामने लगभग ३२३ प्रार्थनापत्र और १९३ गवाह उपस्थित हुए। उन हिन्दुस्तानियों ने जिन्हें अङ्गरेजी शिक्षा द्वारा काफ़ी लाभ हुआ था और जिनकी माँगों और आवश्यकताओं की ही पूर्त्ति के लिए इस शिक्षा का प्रचार किया गया था, देश में उच्च शिक्षा-प्रचार का पक्ष लिया और हमारे प्रान्त के राजा भिनगा, सर सैयद अहमद खाँ, राजा जैकृष्णदास, बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, मिस्टर जे० सी० नेस्फील्ड आदि जैसे प्रमुख व्यक्तियों ने कमीशन के सामने गवाहियाँ दीं।

इन गवाहियों से सर्वसाधारण की शिक्षा के सम्बन्ध में कितनी ही महत्वपूर्ण बातें विदित हुईं। उनमें एक तो यह थी कि पुरानी पद्धति पर सञ्चालित पाठशालाएँ बन्द होती चली जा रही थीं। दूसरी कठिनाई सारे प्रान्त में एक भाषा न होने की थी। बहुतेरे गवाहों ने अपने बयानों में लोगों की निर्धनता को प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार की मन्द गति का कारण बतलाया था। साहित्यिक लोगों ने अपनी गवाहियों में सर्वसाधारण में शिक्षा-प्रचार करने का समर्थन करते हुए इस बात पर ज़ोर दिया था कि सरकारी संस्थाओं में शिक्षाप्राप्त लोगों द्वारा जनता में शिक्षा-प्रचार किया जाय।

कमीशन की सिफ़ारिशें

इस कमीशन ने सारे भारतवर्ष की शिक्षा के सम्बन्ध में एक बड़ी लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट तैयार की, परन्तु इस पुस्तक में हमें केवल यह देखना है कि प्राइमरी शिक्षा के सम्बन्ध में इसने किन सुधारों की सिफ़ारिश की थी। इस कमीशन की रिपोर्ट के चौथे अध्याय में सबसे पहली सिफ़ारिश यह की गयी थी कि जनता में शिक्षा-प्रचार करने के लिए प्राइमरी शिक्षा देसी भाषाओं में दी जाय और इसके द्वारा वे विषय पढ़ाये जाँय जो विद्यार्थियों को उनकी स्थिति के अनुसार उनके जीवन में उपयुक्त साबित हों। इसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यह आवश्यक नहीं था कि यह प्रारम्भिक शिक्षा विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा के लिए आवश्यक साधन हो। इसका मतलब यह था कि मातृ-भाषा के

माध्यम द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा सर्वाङ्गपूर्ण हो और यह आवश्यक न था कि यह उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन बने। इसके अनुसार प्रारम्भिक स्कूल केवल प्राइमरी शिक्षा के लिए ही खोले जाँय, न कि उच्च शिक्षा की तैयारी के लिए। हमारे प्रान्त में तो वर्नाक्युलर और एँग्लो वर्नाक्युलर स्कूलों के पाठ्यक्रमों के पारस्परिक अन्तर से यह बात स्पष्टतः प्रतीत हो रही है।

इसी अध्याय में तीसरी सिफ़ारिश में इस बात का उल्लेख है कि हर प्रकार की शिक्षा के लिए सरकार की सहायता सर्वथा अपेक्षित है। जनता में प्रारम्भिक शिक्षा के साधनों की अभिवृद्धि और उनकी उन्नति करना, उस समय की स्थिति के अनुसार, सरकार का परम आवश्यक कर्त्तव्य होना चाहिए था और गवर्नमेन्ट ने अब तक इस ओर जितनी चेष्टा की थी, उसे अब इससे कहीं अधिक चेष्टा करने की आवश्यकता थी। वास्तव में कमीशन ने सन् १८५४ के ख़रीते की सिफ़ारिशों का ही समर्थन अपनी रिपोर्ट में किया था। इस शिक्षा-प्रचार के लिए धन सम्बन्धी सहायता का उल्लेख करते हुए सरकार से सिफ़ारिश की गयी थी कि सरकार द्वारा शिक्षा-प्रचार की नीति में प्रारम्भिक शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया जाय और उसके ख़र्चे के लिए लोकल फंड (स्थानीय कर-कोप) का पूरा रुपया तथा प्रान्तीय आय का बहुत बड़ा हिस्सा मिलना चाहिए।

भारतीय सरकार ने इन सिफ़ारिशों से पूर्ण सहानुभूति प्रकट की, किन्तु प्रान्तों के विचारवान और उन्नतिशील अधिकारियों

की धारणा यह हुई कि कमीशन ने केवल समझौता करने की दृष्टि से दोनों पक्षों को साधने की बातें की हैं। इस विषय में दो बातें उन्हें विशेष रूप से खटकती थीं। सरकार ने उस समय की स्थिति के बहाने और अन्य प्रकार के शिक्षा-क्रमों के प्रचलित होने की आड़ में जनता में, शिक्षा-प्रचार को उन्नति को बहुत कुछ परिमित रखने की चेष्टा की थी। फिर यह सिफारिशें अधिक उन्नतिशील और लाभदायक भी नहीं थीं। परन्तु हमारे प्रान्त के उस समय के लाट सर आलफ्रेड लायल का मत इन सिफारिशों की बाबत सरकार के मत से भिन्न था, क्योंकि उनके विचार में माध्यमिक और प्रारम्भिक दोनों ही प्रकार के शिक्षा-क्रम समान रूप से महत्त्व के थे। उनके विचार से सहमत होने वाले व्यक्तियों का यह भी कहना था कि यदि सरकार ने इसमें तनिक भी ढील-ढाल की तो अवश्य ही माध्यमिक शिक्षा की हानि होगी। इसलिए उसे भी सरकार को ओर से पर्याप्त सहायता मिलनी चाहिए। जनता का बहुमत भी इसी विचार का समर्थक था। इसलिए जब तक मध्य स्थिति वाली शिक्षित जनता का यह विचार था, तब तक कमीशन की सिफारिशों के होते हुए भी, माध्यमिक शिक्षा पर व्यय में किसी प्रकार की कमी होने का भय न था।

कमीशन की सिफारिशों के अनुसार प्राइमरी शिक्षा में व्यावहारिक विषयों को सम्मिलित करने तथा उसे सर्वतोन्मुखी बनाने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि उसका क्षेत्र विस्तृत

कर दिया जाय। इसलिए कमीशन ने इस बात की भी सिफ़ारिश की थी कि शारीरिक व्यायाम की उन्नति के लिए स्कूलों में देसी खेल-कूद, जिम्नास्टिक, ड्रिल तथा अन्य प्रकार के व्यायाम भी सिखाये जाँय।

प्राइमरी शिक्षा-प्रचार में शुल्क का प्रश्न बड़ी उलझन का था। निःशुल्क शिक्षा-प्रचार का ध्येय तो उस समय उनके लिए भी अपेक्षित नहीं था, जो 'शिक्षा-कर' देने वाले थे। फिर हमारे प्रान्त में तो फ़ीस लगा देने से भारी बाधा पड़ने की आशङ्का थी; क्योंकि यहाँ तो प्राइमरी शिक्षा वास्तव में निःशुल्क ही दी जाती थी।

नये लोकल सेल्फ़ गवर्नमेन्ट ऐक्ट (स्वायत्त शासन विधान) के अनुसार जो ज़िला बोर्ड क़ायम हुए थे, उनके ज़िम्मे यह भार सौंपा गया था कि वे देहातों के प्राइमरी स्कूलों का भी नियन्त्रण करें, परन्तु इस खरीते के चौथे अध्याय की ३६वीं सिफ़ारिश में शिक्षा-विभाग का नियन्त्रण और शिक्षा-नीति का क्रम एकसा बनाये रखने के विचार से यह निश्चित किया गया था कि डिस्ट्रिक्टबोर्ड उन नियमों को यथाविधि स्वीकार कर लें, जो इन स्कूलों की सहायता तथा इनके नियन्त्रण करने के लिए शिक्षा-विभाग ने बना दिये थे और शिक्षा-विभाग की स्वीकृति के बिना इनमें कोई परिवर्तन या परिवधन न करें। इसके साथ यह भी निश्चय किया गया था कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड शिक्षा-विभाग द्वारा प्रमाण-पत्र पाये हुए अध्यापकों की ही नियुक्ति करें तथा इनकी

तरक्क़ी और बरख़ास्तगी के मामले में भी शिक्षा-विभाग से अनुमति प्राप्त किया करें। कमीशन की यह सिफ़ारिश भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने देसी पाठशालाओं के प्रोत्साहन और उनकी प्रामाणिकता को भी उस हालत में मान लिया था यदि वे किसी प्रकार की लौकिक शिक्षा देते हों।

हमारे प्रान्त के सम्बन्ध में विशेष सिफ़ारिशें

इस प्रकार यह निश्चित हो गया कि प्रारम्भिक शिक्षा के लिए लोकल फण्ड (स्थानीय कर-कोष) का तो सारा रुपया व्यय किया जाय और शिक्षा-प्रचार की मद का प्रान्तीय आय का भी अधिकांश भाग इसी पर ख़र्च हो। इसका शिक्षा-क्रम भी लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार बनाया जाय और देसी पाठशालाओं को भी काफ़ी प्रोत्साहन मिले। साथ ही उन जातियों में शिक्षा-प्रचार करने के लिए विशेष रूप से चेष्टा की जाय जो कम शिक्षित थीं। कमीशन को इस बात का विश्वास दिलाया गया था कि हमारे प्रान्त की वे जातियाँ जो सदा से प्रजा की दृष्टि में प्रतिष्ठित और उच्च मानी जाती रही हैं, प्रारम्भिक और उच्च दोनों प्रकार की शिक्षा से प्रायः वञ्चित रहती हैं। इसलिए कमीशन के विचार में इन जातियों की शिक्षा में प्रोत्साहन देना परम आवश्यक था।

उनके विचार में हलकाबन्दी मदरसे ज़मींदारों के लड़कों को प्रारम्भिक शिक्षा देने के लिए स्थापित हुए थे और इसलिए

अन्य जातियों के जो लड़के इन स्कूलों में पढ़ने जाते थे, उनके लिए फ़ीस देना अनिवार्य होना चाहिए था। इसीलिए उन्होंने इस वात की सिफ़ारिश की कि कुछ समय के लिए हलकावन्दी मदरसों में केवल ज़मींदारों के ही लड़के रखे जाँय और जिला कमिटियों की सहायता से जो देसी पाठशालाएँ स्थापित हुई थीं, उनमें जनता को शिक्षा दी जाय। इन मदरसों के विद्यार्थियों को भी फ़ीस देना आवश्यक था।

यह तो उसी पुरानी पद्धति का अप्रत्यक्ष रूप में समर्थन करना था और उन रईसों तथा मुसलमानों के लड़कों के लिए विशेष सुविधा प्रस्तुत करनी थी, जो अपने वालकों को चमार और बढ़ई के वालकों के साथ वैठा कर पढ़ाना पसन्द न करते थे। पश्चिमी सभ्यता का एकीकरण विधान यहाँ के लोगों के लिए अत्यन्त अप्रिय प्रतीत होता था। इसीलिए कमीशन ने उनकी शिक्षा के लिए ऐसी सिफ़ारिशें कीं कि यदि कहीं उनके अनुसार काम किया जाता तो अवश्य ही शिक्षा-प्रचार को वड़ी हानि पहुँचती। हर गाँव में दो-दो स्कूलों का खर्च सहन कर सकने की शक्ति न थी। यदि हर गाँव में ऐसे दो स्कूल खोले जाते जिनमें से एक स्कूल में रईसों के लड़के और दूसरे में ग्राम के अन्य जातीय वालक शिक्षा पाते तो शायद धनाभाव से १० वरस ही में सभी स्कूल वन्द हो जाते।

कमीशन की सिफ़ारिशों पर पुनः दृष्टिपात करने से हमको पता लगता है कि प्रायः सभी प्रान्तों में उसकी वहुत सी सिफ़ारिशें

लोगों को मालूम थीं। वास्तव में कमीशन ने १८५४ ई० के खरीते की बातों का ही पिष्टपेषण किया था, परन्तु उसकी रिपोर्ट से एक लाभ यह अवश्य हुआ कि उससे यह प्रत्यक्ष हो गया कि सर्वसाधारण को शिक्षा से कितना लगाव था। इससे यह भी प्रकट हो गया कि अङ्गरेज़ी राज्य के आरम्भ से शिक्षा-प्रचार के लिए क्या-क्या कार्य किये गये थे। ऐसी अवस्था में सारे देश की निरक्षरता का विचार करते हुए क्या यह कुछ कम आश्चर्य की बात है कि इस कमीशन ने सर्वसाधारण में प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा-प्रचार के लिए बजट में केवल दस लाख रुपये सालाना बढ़ाने की अनुमति दी थी!

सम्भव है कि इस परिस्थिति में जो उन्नति होती, वह स्थायी होती; परन्तु वह कितनी मन्द हो गयी, इसका परिणाम आज भी प्रत्यक्ष है।

छठा अध्याय

सन् १८८२ वाले कमीशन के बाद की उन्नति

ज़िला बोर्डों के अधिकार में गाँवों की प्रारम्भिक शिक्षा

सन् १८८२ के कमीशन ने शिक्षा प्रचार के कार्य में एक नयी स्फूर्त्ति पैदा कर दी थी। यद्यपि इसकी सिफ़ारिशें बहुत अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन करने के पक्ष में न थीं, फिर भी इनके प्रकाशित हो जाने से शिक्षा-प्रचार के कार्य की गति में कुछ उन्नति अवश्य हुई। इसी समय १८८३ ई० में लार्ड रिपन का प्रसिद्ध स्वायत्त शासन-विधान (लोकल सैल्फ़ गवर्नमेन्ट ऐक्ट) स्वीकृत होकर क़ानून बन गया और उसके अनुसार प्रत्येक जिले के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को गाँवों की प्रारम्भिक शिक्षा का प्रतिपालक बना दिया गया।

ये जिला बोर्ड १८८५ ई० में पुरानी जिला कमिटियों के स्थान में बनाये गये थे और इनमें हमारे देश के शासन-प्रबन्ध-नीति से अनभिज्ञ बेचारे उदासीन सदस्यों को अँगरेज अफ़सरों की अभिभावुकता में इस नये प्रकार की शासन-विधि सिखाने का पहला ही प्रयत्न था! १८८३ ई० के इस नये क़ानून के अनुसार गाँवों में स्कूल खोलने, उनका समुचित प्रबन्ध करने तथा उनके सञ्चालन करने का सारा भार इन्हीं जिला बोर्डों के ऊपर

छोड़ दिया गया था। २५ फ़रवरी १८८५ ई० के मन्तव्य द्वारा सरकार ने उन्हें आदेश दिया था कि स्वायत्त शासन के अधीन करते समय गवर्नमेन्ट ने कई विभागों के सम्बन्ध में समय-समय पर जो शासन सिद्धान्त निर्धारित किये हैं, उनके अनुसार सारा काम होना चाहिए और उनका यथाविधि पालन किया जाना चाहिए। साथ ही इन सब बातों में एक ही नीति का प्रयोग करने के विचार से गवर्नमेन्ट ने इन प्रतिबन्धों के दाइरे के भीतर ही डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को यह भी अधिकार दे दिया था कि वे अपनी स्वेच्छा का यथावसर उपयोग करें। इसीलिए गवर्नमेन्ट के लिए यह भी आवश्यक हो गया कि वह इन बोर्डों को इस बात के लिए बाध्य करे कि कुछ आवश्यक मामलों में उनके लिए विभागीय अफ़सरों की अनुमति लेना बड़ा ज़रूरी था।

बोर्डों की धनाभाव सम्बन्धी कठिनाइयाँ

परन्तु इन ज़िला बोर्डों के पास शिक्षा प्रचार के लिए अलग से कोई निश्चित कोष न था। पुरानी ज़िला कमिटियों ने प्रान्तीय आय में से शिक्षा-प्रचार के लिए कई विशेष मद मंजूर करा लिये थे; परन्तु नये ऐक्ट की धाराओं के अनुसार इन नये बोर्डों के पास शिक्षा-प्रचार के लिए केवल स्थानीय और बोर्ड के अधीन लोक-सेवा कार्यों के करों की ही आय थी। इसके अतिरिक्त जो रुपये की कमी रह जाती थी, उसे सरकार प्रान्तीय कोष में से एक मुश्त देकर पूरा कर देती थी। साल में जो रुपया ख़र्च करने से बच रहता था, वह कमीशन की सिफ़ारिश के प्रतिकूल सरकार

में ज़ब्त हो जाता था। चूँकि व्यापार या कृषि में किसी प्रकार की उन्नति का कोई प्रबन्ध नहीं था, इसलिए उनके लगान में भी किसी प्रकार की वृद्धि की आशा नहीं हो सकती थी और इसीलिए निकट भविष्य में शिक्षा के प्रचार में भी किसी प्रकार की वृद्धि की सम्भावना नहीं थी। परन्तु शिक्षा पर ख़र्चा तो तुरन्त बढ़ गया था, क्योंकि नीचे दरजे के अफ़सर—डिप्टी और सबडिप्टी इन्स्पेक्टरों का ख़रचा भी इन्हीं जिला बोर्डों पर लादा गया था और ऊँचे दरजे के अफ़सर—इन्स्पेक्टरों और असिस्टेंट इन्स्पेक्टरों का कुछ ख़र्च भी उनके ज़िम्मे था।

नये एक्ट के अनुसार डिस्ट्रिक्ट बोर्डों पर कुछ उत्तरदायित्व भी रखा गया था। इसलिए शिक्षा के साथ-साथ कई अन्य विभाग उनके अधिकार में दिये गये थे। उनसे यह आशा भी की गयी थी कि वे प्रयत्न करके शिक्षा की ओर लोगों की अभिरुचि बढ़ायेंगे। इसलिए इस विचार से तो इन ज़िला बोर्डों का काम अधिक सफल नहीं रहा, क्योंकि हमारे प्रान्त की शिक्षा-विभाग की सन् १८९७ की रिपोर्ट में लिखा है कि शिक्षा में इन ज़िला बोर्डों का सारा प्रयत्न ज़िले के कलक्टर या डिप्टी कमिश्नर के रुख़ पर निर्भर होता है। वास्तव में सिवाय उस अवसर के जब कि किसी को कोई नौकरी दिलानी होती थी, बोर्ड के मेम्बरों की कोई गणना न थी।

इसी वर्ष एटा बोर्ड के चेयरमैन ने एक ऐसी योजना तैयार की थी जिसमें बोर्ड के प्रत्येक मेम्बर के ज़िम्मे कुछ स्कूल सौंप

दिये गये थे। परन्तु यह भी बहुत दिनों तक न चल सकी, क्योंकि वास्तव में यह स्कूल सरकारी उद्योग और सरकारी संरक्षण पर चलने के इतने निर्भर हो गये थे कि जहाँ कहीं इसकी कमी हुई कि इन स्कूलों की अवनति होने लगी। इलाहाबाद के मैजिस्ट्रेट मिस्टर फुलर ने इसीलिए अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि इन स्कूलों में लडकों की कम उपस्थिति और रद्दी पढ़ाई का एक ज़बर्दस्त कारण यह भी है कि तहसीलदार और डिप्टी कलक्टर इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते। इसीलिए जनता भी इनकी ओर से उदासीन होती जाती है।

हमारे यहाँ की जनता के उत्साह का खोखलापन इससे अधिक और किन स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है कि १५ वर्ष तक काम करते रहने पर भी इन ज़िला बोर्डों में कोई उन्नति न हो सकी। सन् १९०० की शिक्षा-विभाग की रिपोर्ट में भी इन ज़िला बोर्डों की यही शिकायत देखने को मिलती है, क्योंकि उसके अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि यह ज़िला बोर्ड शिक्षा में कोई विशेष उत्साह दिखा रहे हैं। सन् १९०१ की रिपोर्ट में तो यह स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'साल के पूरे बारह महीने में शायद ही कोई मेम्बर स्कूल के भीतर पैर रखता हो। लेकिन जब सालाना प्रस्ताव भेजने का समय आता है तो यह मेम्बर अध्यापकों के काम के सम्बन्ध में बड़े खुले शब्दों में अपनी राय प्रकट करने से नहीं शरमाते और इस समय ये लोग शिक्षा-विभाग के मुक़ाबिले में अध्यापकों के पक्षपाती और

हिमायती बन कर उनको उचित दण्ड मिलने से बचाने के लिए अपने-अपने पद का पूरा-पूरा दबाव डालने में नहीं हिचकिचाते।'

वास्तव में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बरों और शिक्षा-विभाग के बीच यह शिक्षा-सम्बन्ध उचित और उत्साहवर्द्धक नहीं कहा जा सकता। मेम्बरों के इस प्रकार के व्यवहार का कारण उनकी अधिकार-प्रियता ही कही जा सकती है; क्योंकि उनको अपने कर्त्तव्य-पालन का कोई विचार या एहसास नहीं था। ये लोग देहातों में केवल अपनी स्थिति के कारण मेम्बर बना दिये गये थे और वास्तव में न तो ये स्वयम् ही अधिक शिक्षित थे और न इनको शिक्षा से कोई प्रेम ही था। ऐसी अवस्था में यह कब आशा की जा सकती थी कि वे जनता को शिक्षा की ओर ध्यान देंगे। ऐसे ग़ैरसरकारी मेम्बर जो शिक्षा में कुछ उत्साह लेते हों, क़स्बों के म्युनिसिपल बोर्ड में तो अवश्य पाये जाते थे।

डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के इस धनाभाव का प्राइमरी स्कूलों पर उलटा प्रभाव पड़ा। इनके पास रुपये की बहुत कमी थी, परन्तु अध्यापकों का वेतन बढ़ाना भी ज़रूरी था। इसलिए बहुत से बोर्डों ने यह निश्चय किया कि कुछ हलकाबन्दी स्कूलों को तोड़ कर जो रुपया बचे, उससे योग्य शिक्षकों की वेतन-वृद्धि की जाय। साथ ही अपर प्राइमरी दरजों की फ़ीस भी बढ़ा दी जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ १८८६-८७ में ४,९७८ स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या १,७१,८१२ थी, वहाँ सन् १८९१-९२ में ४,१८५ स्कूलों में यह संख्या घट कर १,४७,७१४ रह गयी। साथ

ही साथ अब एक विद्यार्थी के पढ़ाने का ख़र्च ३।) से बढ़ कर ४) हो गया।

सन् १८९४ में हमारे प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर एन्टनी मैकडानल्ड ने शिक्षा रिपोर्ट की आलोचना करते हुए लिखा था:—

(१) हमारे सूबे में प्रारम्भिक शिक्षा पाने वाले सब विद्यार्थियों की संख्या हमारे यहाँ की जन-संख्या के अनुपात में और सब प्रान्तों से थोड़ी है।

(२) हमारे यहाँ की प्रान्तीय और स्थानीय आय के मुक़ाबिले में सरकारी कोष से शिक्षा पर जो रुपया ख़र्च हो रहा था, वह बहुत कम था और इस रुपये का भी बहुत बड़ा अंश माध्यमिक और अँगरेज़ी शिक्षा पर ख़र्च किया जा रहा था।

(३) प्रत्येक बालक की शिक्षा पर व्यय का जो औसत आता था वह बहुत अधिक था और

(४) नार्मल स्कूलों में अध्यापकों को जो शिक्षा दी जाती थी, वह बिल्कुल अपर्याप्त थी।

इसलिए इस रिपोर्ट पर सन् १८९४—९५ के सरकारी मन्तव्य में, हमारे प्रान्त के ऊपर से निरक्षरता का लाञ्छन मिटाने के लिए, यह सिद्धान्त स्थिर किया गया कि हमारे यहाँ की शिक्षा में व्यय की मात्रा में किफ़ायत करके शिक्षा के प्रचार में अधिक विस्तार किया जाय। इस शुभ इच्छा से प्रेरित होकर उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा के लिए हमारे प्रान्त की समाई के अनुसार सरकारी इमदाद की मात्रा अधिक से अधिक बढ़ा

कर ७५ हज़ार रुपया सालाना कर दी ! यद्यपि यह इमदाद भी वहुत कम थी, तो भी ज़िला बोर्डों को साल भर में सिर्फ़ इसका दो-तिहाई ख़र्च करने का अधिकार मिला था। इसीलिए सरल से सरल प्रारम्भिक शिक्षा का प्रसार करने के विचार से यह निश्चित हुआ कि इस सम्बन्ध में अब तक प्राइवेट संस्थाओं द्वारा स्कूल न खोलने देने की जो नीति वरती गयी थी, उसे और न बढ़ने दिया जाय, वल्कि अब से जो लोग अथवा जो संस्थाएँ नये स्कूल खोलना चाहें, उन्हें सरकार की तरफ़ से सहायता भी प्रदान की जाय।

इस प्रकार इस नयी नीति का शीघ्र ही वड़ा सन्तोषजनक प्रभाव यह हुआ कि अधिकाधिक प्रारम्भिक स्कूल खुलने लगे—यहाँ तक कि १८९७ ई० में इनकी संख्या वढ़ कर ६,०२५ हो गयी। इनके साथ ही साथ वोर्ड के स्कूलों में भी वृद्धि हुई और प्राइवेट स्कूल भी सरकारी इमदाद के नियमों का पालन करने लगे। एक इलाहावाद जिले में ही प्रारम्भिक शिक्षा पाने वाले लड़कों की संख्या में ५० प्रतिशत वृद्धि हो गयी। सन् १८९६-९७ ई० की शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्ट में जौनपुर जिले के डिस्ट्रिक्ट वोर्ड की यह रिपोर्ट थी कि इस नयी पद्धति ने एक वड़ी कमी को पूरा कर दिया है। ग़ाज़ीपुर डिस्ट्रिक्टवोर्ड ने भी इसी प्रकार लिखा था कि नये स्कूलों के खुल जाने से एक वड़ी आवश्यकता पूरी हो गयी है और थोड़े ही से ख़र्चे से विद्यार्थियों की संख्या प्रायः दुगुनी हो गयी है।

इसके बाद १८९८ ई० में सरकार ने इसी नीति के अनुसार ५,४०० रुपये की इमदाद और बढ़ा दी, लेकिन सन् १९०२ तक शिक्षा-विभाग के अफ़सरों को इस बात का विश्वास हो गया था कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड इन नये इमदादी स्कूलों को बिना कुछ अधिक समझे-बूझे ही खोल देने में अधिक तत्परता दिखाते थे।

जिन स्कूलों का हम यहाँ पर वर्णन कर रहे हैं, वे देसी पाठ-शालाओं से बिलकुल भिन्न थे; क्योंकि ये पाठशालाएँ तो बोर्ड के स्कूलों की प्रतिस्पर्द्धा में या तो बिलकुल नष्ट हो चुकी थीं, या अपनी कालापवर्त्तिता के कारण सरकारी इमदाद प्राप्त करने से वञ्चित थीं। ये नये इमदादी मदरसे एक प्रकार से बोर्ड के उन घटिया मदरसों के प्रतिरूप थे जिनमें उनके सारे दोषों के साथ-साथ न तो उनका जैसा साज-सामान था, न उनको जैसी योग्यता थी और न उनकी सी धन सम्बन्धी स्थिति ही ऐसी सन्तोषजनक थी कि जिससे उनकी मर्यादा स्थापित हो सके।

इनमें से अधिकांश तो बिलकुल निकम्मे थे। न उनमें अधिक लड़के ही पढ़ने जाते थे, न उनके पास मकान ही अच्छे थे, और न उनके अध्यापकों को ही पर्याप्त वेतन मिलता था। इन स्कूलों की आमदनी का मुख्य जरिया केवल ३,४ रुपया मासिक सरकारी इमदाद थी। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि इन स्कूलों की उन्नति करने के लिए इन्हें अधिक इमदाद देने की आवश्यकता थी, ताकि वे अपने यहाँ कम से कम योग्य शिक्षक तो रख सकें।

ऐसी अवस्था में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि हमारे यहाँ की सार्वजनिक संस्थाओं को, ऐंग्लो वर्नाक्युलर स्कूल स्थापित करने में जैसी सफलता हुई, वैसी देहाती स्कूल स्थापित करने में क्यों नहीं हुई?

देहातों में प्राइवेट स्कूलों की असफलता के कारण

इसका कारण ढूँढने में कुछ अधिक देर नहीं लगनी चाहिए। ऐंग्लो वर्नाक्युलर स्कूल उन लोगों की शिक्षा के लिए तथा उन लोगों द्वारा खोले जाते थे, जिनको उस शिक्षा की वास्तव में आवश्यकता थी, परन्तु ये प्राइमरी स्कूल दूसरे लोग उन देहात वालों के लिए खोलते थे, जिनको उनकी कोई भी परवाह नहीं थी। गाँव वालों की इस उदासीनता का कारण हम आगे चल कर वर्णन करेंगे। इस समय तो हम केवल एक यह कारण बता देना चाहते हैं कि ऐंग्लो वर्नाक्युलर स्कूल शहरों और क़स्बों में खोले जाते थे, इसलिए उन्हें गाँव के प्राइमरी स्कूलों की अपेक्षा सुप्रबन्ध, सुनियन्त्रण और सानुराग का अधिक सुयोग प्राप्त था।

१९वीं शताब्दी के अन्त में प्राइमरी हलक़ाबन्दी स्कूलों की अवस्था

ऊपर के वर्णन से यह विदित हो गया होगा कि १८९२ ई० तक प्राइमरी स्कूलों की रूपरेखा बन चुकी थी। इनमें अपर और लोअर प्राइमरी दो प्रकार के स्कूल थे। लोअर प्राइमरी में बाल कक्षाओं के दो साल बाद तक और अपर प्राइमरी में लोअर

प्राइमरी से भी दो साल आगे तक शिक्षा दी जाती थी। अपर प्राइमरी कक्षाओं में भाषा और हिसाब के अतिरिक्त पैमाइश, क़ानून मालगुज़ारी और लगान, और भारतवर्ष, एशिया तथा युरोप का भूगोल पढ़ाना आवश्यक विषय थे। हर साल की परीक्षा के बाद एक कक्षा से दूसरी कक्षा में लड़कों को चढ़ाया जाता था। डिप्टी या सब-डिप्टी इन्स्पेक्टर लोअर और अपर प्राइमरी कक्षाओं के सालाना इम्तहान किसी एक निश्चित स्थान पर लिया करते थे। उस समय कुछ अध्यापकों के पास काम बहुत अधिक था, इसलिए १८९६ ई० में यह निश्चय किया गया कि एक अध्यापक वाले स्कूलों में केवल लोअर प्राइमरी दरजे तक ही शिक्षा दी जाय। क्योंकि वास्तव में एक ही अध्यापक को दो बाल-कक्षाएँ और दो प्राइमरी कक्षाएँ एक ही समय पढ़ाना बड़ा कठिन था।

इस समय तक हमारे स्कूलों की शिक्षा में हमारे बालकों के केवल मस्तिष्क की उन्नति की ओर ही ध्यान दिया जाता था; किन्तु अब उनकी शारीरिक अभिवृद्धि की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा और इन स्कूलों में ड्रिल सिखाने के लिए नार्मल स्कूलों में मास्टरों को इस नये विषय की शिक्षा देने का विशेष प्रबन्ध किया जाने लगा। इस प्रकार इन आकर्षणविहीन स्कूलों में एक ऐसा नया विषय उपस्थित हो गया, जिसने लड़कों में एक नया उत्साह उत्पन्न कर दिया और जिसका प्रदर्शन बहुत से बालकों ने अपने घर से यूनीफ़ार्म या वर्दी बनवा कर प्रदर्शित किया।

कुछ जिले ऐसे भी थे जहाँ के अफ़सरों ने ड्रिल की उपयोगिता को न समझ पाया और उन्होंने बालकों के इस उत्साह को बढ़ने नहीं दिया। सन् १५०० में प्राइमरी दरजों में ड्राइङ्ग और कृषि के विषय भी बढ़ा दिये गये, परन्तु इन्हें शीघ्र ही हटाना पड़ा।

इस बीच में ट्रेनिङ्ग-प्राप्त अध्यापकों को नियुक्त करने की ओर विशेष ध्यान दिया गया था, और १९०२ ई० तक ट्रेनिङ्ग-प्राप्त शिक्षकों की संख्या १०० में ३९ तक पहुँच गयी थी। साथ ही स्कूलों को इमारतों और उनके साज़-सामान में भी बहुत कुछ उन्नति हुई। देहाती स्कूलों की इमारत का एक आदर्श नमूना स्वीकृत हुआ। इसमें हर बालक के लिए ८ वर्ग फ़ीट स्थान का प्रबन्ध किया गया था। इसके साथ ही साथ यह आवश्यकता लोगों को यथेष्ट जान पड़ी कि अध्यापक के लिए भी मकान बनवाया जाय। सरकार की ओर से स्कूलों के इन्स्पेक्टरों को यह सूचना मिली कि वे इन स्कूलों की इमारतों की हालत का भी मुआयना करते रहें, परन्तु इतना सब होने पर भी प्राइवेट या इमदादी स्कूलों की इमारतों की अवस्था बड़ी असन्तोषजनक रही।

प्राइमरी स्कूलों में सालाना परीक्षा पहले असिस्टेन्ट इन्स्पेक्टर लेते थे और फिर बाद में डिप्टी और सब-डिप्टी लेने लगे। इन परीक्षाओं के समय प्रायः १०-१२ स्कूलों के विद्यार्थियों को किसी एक सुभीते के स्थान पर बुला कर सब की एक साथ परीक्षा ली जाती थी। यह तरीक़ा हमारे प्रान्त में अब तक जारी है। चूँकि इन परीक्षाओं का परिणाम ही अध्यापक की

सफलता का एक-मात्र परिचायक था, इसलिए लड़कों को प्रायः रटा कर ही परीक्षा के लिए तैयार कराया जाता था और इन्स्पेक्टरों की लगातार रिपोर्टों के बावजूद भी इस शिक्षा-विधि में कोई उन्नति न हो सकी थी—यहाँ तक कि कुंजियों का उपयोग वर्जित होने पर भी उनका प्रचार रोकने में कुछ अधिक सफलता प्राप्त न हुई।

प्राइमरी स्कूलों के साथ ही साथ देहात के मिडिल स्कूलों की भी अवनति होने लगी थी, परन्तु जब सरकारी इमदाद की पद्धति जारी हुई, तो इनमें भी फिर उन्नति हो गयी। नीचे दिये हुए ब्यौरे से वर्नाक्युलर मिडिल स्कूलों की इस बेसिलसिले की उन्नति का दिग्दर्शन हो जायगा।

वर्ष	पाठशालाएँ	विद्यार्थी	प्रत्येक स्कूल में लड़कों की औसत-संख्या
१८८६-८७	४६८	४२,२३७	९०
१८९१-९२	३३३	३०.०९०	९०
१८९६-९७	२९७	३१,७६९	१०७
१९०१-२	३०१	४०,५३२	१३५

१९०१ ई० तक मिडिल स्कूलों की संख्या बहुत कुछ घट गयी थी, परन्तु इस समय जो बच गये थे, वे अधिक शक्तिशाली होने लगे थे और योग्य अध्यापकों, अच्छी इमारतों, अच्छे साज-सामान आदि और परीक्षाओं में अच्छे परिणाम प्रदर्शित करने

के कारण उनकी साख भी बढ़ गयी थी। अब इनमें लड़के भी बहुत आने लगे थे, क्योंकि इस समय कम से कम वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा पास किये बगैर किसी को १०) मासिक वेतन की भी नौकरी न मिलती थी। वास्तव में मिडिल की कक्षाएँ इस समय इतनी अधिक लोकप्रिय हो गयी थीं कि बहुत से नार्मल पास प्रारम्भिक स्कूल के मास्टरों को भी अपने स्कूलों में मिडिल की कक्षाएँ खोल लेना बहुत लाभप्रद प्रकट हुआ; क्योंकि इनमें पढ़ने वाले लड़कों की कमी न थी और मिडिल की परीक्षा में इनका नतीजा भी प्रायः अच्छा ही रहता था। परन्तु यह उन्नति प्रायः प्रारम्भिक कक्षाओं की शिक्षा से उदासीन होकर ही सम्भव थी और इसीलिए शिक्षा-विभाग ने इस प्रगति को शीघ्र ही रोक दिया।

१९वीं शताब्दी के अन्त तक वर्नाक्युलर मिडिल स्कूलों की ऐसी धाक जम गयी थी कि बहुत से लोगों को तो यह विश्वास हो चला था कि इनकी शिक्षा का स्टैण्डर्ड ऐंग्लो वर्नाक्युलर स्कूलों की शिक्षा से कहीं अधिक ऊँचा था। इसका कारण यह था कि ऐंग्लो वर्नाक्युलर स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को वर्नाक्युलर मिडिल के विद्यार्थी की अपेक्षा कई विषय अधिक पढ़ने पड़ते थे। दूसरा कारण यह था कि अङ्गरेज़ी की पढ़ाई ही में इनका बहुत अधिक समय खर्च हो जाता था और देसी भाषाओं की पढ़ाई के लिए इन स्कूलों में बड़ी साधारण योग्यता के अध्यापक रखे जाते थे।

जनसाधारण तक शिक्षा का न पहुँचना

इस शताब्दी के अन्त में दो बातें स्पष्ट हो गयी थीं। पहली बात तो यह थी कि हमारे प्रान्त में प्रारम्भिक शिक्षा अभी जन-साधारण तक न पहुँच पायी थी; क्योंकि गाँव के मदरसों में भी अधिक संख्या में ऊँची जाति के लोग ही पढ़ने वाले थे और नीच जातियाँ अभी इस ओर बहुत कम झुकी थीं। १८९२-९३ ई० की शिक्षा रिपोर्ट का यह रोना इस समय भी बिलकुल ठीक था कि देहातों में अन्तिम श्रेणी के लोग, जो वास्तव में ज़मीन जोत कर, या पेड़ों से लकड़ी काटकर अपनी जीविका प्राप्त करते थे, अभी तक किसी भी प्रकार की शिक्षा न पा रहे थे। उस समय के देहाती मदरसों में ब्राह्मण, क्षत्री, बनिये, कायस्थ और मुसलमान या कभी-कभी कुछ कलवार लोग भी पढ़ते थे; परन्तु देहात के अहीर और चमार तो अभी बिलकुल अन्धकार ही में थे।

धन की आवश्यकता

परन्तु इस समय जन-साधारण में शिक्षा के लिए वृहत आन्दोलन की अनुपस्थिति में भी शिक्षा के लिए प्रजा की ओर से जितनी माँग थी, उसका भी पूरा करना बहुत कठिन था। सन् १९०२ की शिक्षा रिपोर्ट में हमारे प्रान्त के शिक्षा-विभाग ने अपनी आवश्यकताओं की निम्न-लिखित माँगें पेश कीं थीं :—

(१) अधिक प्रारम्भिक स्कूल खोले जाने चाहिए।

(२) ट्रेनिङ्ग प्राप्त अधिक अध्यापक अर्थात् अधिक नार्मल स्कूल खुलने चाहिए।

(३) अध्यापकों की वेतन-वृद्धि होनी चाहिए।

(४) स्कूलों की अधिक और उत्तम इमारतें होनी चाहिए।

(५) डिप्टी और सब-डिप्टी इन्स्पेक्टरों की संख्या अधिक बढ़ायी जानी चाहिए।

दूसरे शब्दों में यदि कहीं से धन की प्राप्ति सम्भव होती, तो इस रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा-प्रसार के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खुला पड़ा था, परन्तु इसको कार्यरूप में परिणित करने के लिए धन की बहुत बड़ी आवश्यकता थी।

सातवाँ अध्याय

उन्नति का युग

१९वीं सदी के अन्त में देहातों में होने वाले सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन

ब्रिटिश शासन से पहले अन्य किसी शासन ने भारत के लोगों के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन में इतनी प्रबलता के साथ परिवर्तन नहीं किये थे। रेल, डाक, तार, और मुद्रण-कला के प्रचार और ब्रिटिश गवर्नमेन्ट के सुव्यवस्थित शासन ने शान्ति के साथ-साथ लोगों की समृद्धि को ऐसी प्रगति दे दी जो अब तक इस देश को कभी प्राप्त न हुई थी। ऐश-आराम की विदेशी चीजें आ जाने से लोगों के जीवन में नये-नये स्टैण्डर्ड स्थापित हो गये और हमारे समाज में नयी-नयी माँगें उपस्थित हो गयीं। लोगों के रहन-सहन में, तथा उनकी आदतों और उनकी अभिरुचियों में भी एक बड़ा परिवर्तन उपस्थित होने लगा। इस नयी लहर का प्रभाव इतना व्यापक था कि वह गाँवों में भी प्रतीत होने लगा था।

पुराने ज़माने के लोग होते-सोते और आवश्यकता पड़ने पर भी गाँव में ईंट-पत्थर के पक्के मकान बनाने और क़ीमती

कपड़े पहनने को इसलिए तैयार न होते थे कि इसके कारण वे चोरों, ठगों और शासकों के कोपभाजन वनने के खतरे में पड़ सकते थे। अब यही लोग सिर्फ़ दिखावे के विचार से ही उन चीज़ों पर ख़ूब रुपया खर्च करने लगे थे। विदेशों से आयी हुई वस्तुओं की नवीनता ने उनको ख़ूब आकर्षित कर लिया था। इस बात की शिकायत करते हुए एक इन्स्पेक्टर ने सन् १८९२ में लिखा था, 'अब लोग दिखावे के लिए तड़क-भड़क की चीजों पर बहुत रुपया ख़र्च करने लगे हैं और इस रुपये से वे जो चीजें ख़रीदते हैं, वे अपने देश की बनी हुई मोटी और मज़बूत चीज़ें न होकर इङ्गलैण्ड की बनी हुई, कमज़ोर परन्तु सस्ती और भड़कीली चीज़ें होती हैं। यह सत्य है कि इन चीज़ों के दाम सस्ते अवश्य होते हैं, परन्तु वास्तव में इनके लेने में बहुत अधिक ख़र्च हो जाता है, क्योंकि यह बहुत दिनों तक नहीं टिकतीं। अब तो लोग रात को देसी तेल जलाने के लिए भी तैयार नहीं हैं, क्योंकि उन्हें मट्टी का तेल जलाने की आदत पड़ती जा रही है। इस तेल के जलाने का एक लालच यह भी है कि वह बहुत सस्ता पड़ता है। परन्तु वे यह नहीं समझते कि उस तेल के जलाने के लिए नये प्रकार के लैम्प की भी तो आवश्यकता पड़ती है, और इन सब चीज़ों के कारण रोशनी का ख़र्च पहले से कहीं अधिक बढ़ गया है।

इसी प्रकार तीज-त्योहार के अवसरों पर भी लोगों को अपनी तड़क-भड़क दिखाने का अधिक ख्याल रहता है और इस

प्रतिस्पर्द्धा के कारण इन अवसरों पर बहुत अधिक ख़र्च बढ़ गया है। वे लोग जो पहले छाता और जूते को अनावश्यक समझते थे, अब इन चीज़ों को अधिकाधिक बरतने लगे हैं... अब लोगों को यात्रा का भी शौक अधिक बढ़ गया है। मुक़द्दमे-बाज़ी भी .ख़ूब होने लगी है क्योंकि अब सरकारी कचहरियों की सुविधा हो जाने से इस ओर विशेष रुचि बढ़ती जाती है...... गाँवों का सब से मुक़द्दम रोज़गार अब कृषि ही रह गया है, परन्तु इसमें भी हर तरफ़ से प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती चली जा रही है, क्योंकि अब ज़मीन का लगान पहले से अधिक देना पड़ता है।'

इस प्रकार लोगों के ख़र्च तो दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ते चले जा रहे थे, परन्तु इसी के हिसाब से उनकी आय में कुछ अधिक बेशी न हो रही थी। वास्तव में विदेशी चीज़ोंकी अधिकाधिक माँग और नित्य-प्रति की आवश्यकताओं की चीज़ों के महँगे हो जाने के कारण हाथ से काम करने वाले कारीगरों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था और उनमें से अधिकांश को अपने पुरखों के पेशे में कुछ भी लाभ न रह गया था। इसलिए ये लोग भी मजबूर होकर खेती करने लगे थे और इसीलिए अब इस ओर प्रतिस्पर्द्धा भी .ख़ूब बढ़ती चली जा रही थी। इसीसे कुछ लोग सरकारी नौकरी करने के लिए भी मजबूर हो गये थे।

इस प्रकार जहाँ एक तरफ़ लोगों का ख़र्च नवीन आवश्यकताओं के कारण नये ऐश-आराम और साज-शृङ्गार की चीज़ों पर इतना अधिक बढ़ गया था कि उनके पास शिक्षा आदि

पर ख़र्च करने के लिए कुछ भी न बच पाता था, वहाँ दूसरी ओर कृषि में बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा और घरेलू कार-बारों में लाभ की कमी के कारण, उन्हें मजबूर होकर सरकारी नौकरियों की तरफ़ इसलिए झुकना पड़ता था कि उनमें जीविका के लिए सुपास मालूम होता था। परन्तु इसके लिए शिक्षा की आवश्यकता थी। इस प्रकार जब कि प्रजावर्ग शिक्षा का ख़र्च देने के लिए तैयार न था, एक विभाग की तरफ़ से शिक्षा की माँग को पुकार भी उठने लगी थी।

हमारे प्रान्त में शिक्षा की मन्द् गति

परन्तु इन सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के साथ-साथ १९वीं सदी के पिछले पचास वर्ष की उच्च शिक्षा की अव्यावहारिक उन्नति ने लोगों के हृदयों में एक प्रकार का असन्तोष उत्पन्न कर दिया था; क्योंकि इस शिक्षा का परिणाम न तो गुण-विशेष में और न परिमाण में ही सन्तोषजनक हो सका। यद्यपि हमारे प्रान्त में शिक्षा का प्रचार कई अन्य प्रान्तों से पहले शुरू हुआ था, फिर भी साक्षरता तथा पढ़ने वाले लड़कों की संख्या के विचार से हमारा प्रान्त सभी सूबों से पिछड़ा हुआ था। हमारे प्रान्त के शिक्षा-विभाग के पास धन की इतनी कमी थी कि किसी प्रकार की उन्नति सम्भव ही न थी, क्योंकि जब-जब हमारे यहाँ शिक्षा के लिए अधिक रुपया प्राप्त हुआ, उस समय १८९५ ई० की भाँति लड़कों और स्कूलों की संख्या में आपेक्षित वृद्धि भी हो गयी।

धनाभाव

हमारे यहाँ के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर अपनी हर रिपोर्ट में इस धनाभाव का रोना रोते थे, परन्तु इसको कोई सुनवाई न थी। सन १९०३ में जब भारत सरकार ने हमारे प्रान्त को पाँच लाख रुपये की सहायता दी, तो हमारे यहाँ के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मिस्टर ल्युई ने अपनी सालाना रिपोर्ट में कहा था, 'हमारे सूबे को, जिसका नम्बर जन-संख्या की प्रत्येक इकाई पर होने वाले शिक्षा-व्यय के हिसाब से भारतवर्ष के प्रान्तों में सबसे अन्तिम स्थान पर है, इस छोटी सी रक़म की यह इमदाद अन्य सब प्रान्तों की जनसंख्या के हिसाब से भी सबसे कम दी गयी है और इसलिए हमारे देश के अन्य प्रान्त, जो हमसे शिक्षा-प्रसार की होड़ा-होड़ी में अब तक अग्रगामी बने हुए थे, भारत गवर्नमेन्ट के इस पक्षपात के कारण और भी आगे बढ़ जायँगे। यह हमारे सूबे के लिए दुर्भाग्य की बात है कि वह भारतवर्ष के सब सूबों में शिक्षा की उन्नति के विचार से पिछड़ा हुआ है। वास्तव में इसमें हमारा कोई दोष नहीं है। इस एक उदाहरण से ही हमारे उपरोक्त कथन का पूरा-पूरा समर्थन होता है कि १९०५ ई० में भारत सरकार ने जहाँ और प्रान्तों के लिए विशेष सहायता देते समय बड़ी उदारता दिखायी, वहाँ हमारे प्रान्त को उसकी जन-संख्या के हिसाब से ५ लाख रुपये की अति हीन सहायता देकर उसके साथ विमातृ सदृश व्यवहार का उदाहरण दिया था।

इस सहायता से हमारे प्रान्त की जन-संख्या के प्रति एक हज़ार मनुष्य को केवल ८० रुपया मिला। यह रक़म भारतवर्ष के अन्य बड़े प्रान्तों के सामने सबसे अधिक कम है। इसके विपरीत यदि बम्बई की ओर देखें तो उस प्रेसिडेन्सी का नम्बर सब से अव्वल आता है, क्योंकि उसको २४५ रुपये प्रति हज़ार के हिसाब से सहायता मिली थी। साथ ही एक बात और विचारनीय है कि जिस समय बम्बई को यह सहायता मिली थी, उस समय हमारे सूबे की जन-संख्या के हज़ार पीछे केवल १३·१ बालक ही प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर रहे थे और बम्बई प्रेसिडेन्सी में सन् १९०२ ई० में जन-संख्या के हज़ार पीछे ३३·७ बालक प्राइमरी शिक्षा पाते थे।

हमारे प्रान्त में शिक्षा की आवश्यकता के विचार से सरकार की इस उदासीनता का कारण वास्तव में रुपये की कमी नहीं थी; क्योंकि हमारे प्रान्त की सन् १९०४-५ की वार्षिक शिक्षा रिपोर्ट में यह लिखा हुआ है कि भारत सरकार के सालाना बजट में प्रति वर्ष जो बचत होती चली जा रही है, उससे यह सम्भव जान पड़ता है कि जिन प्रान्तीय सरकारों को अपनी प्रजा की उचित माँगों की पूर्ति करने के लिए, अपनी इच्छा के विरुद्ध, अपनी शक्तिहीनता प्रदर्शित करनी पड़ती है, उनके लिए टैक्स में बिना किसी प्रकार की वृद्धि किये हुए, इस बचत की मद्द से विशेष सहायता देना सुविधा-जनक होगा।

इस प्रकार हमारे प्रान्त की प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार में शुरू-शुरू में भारत सरकार की नारज़ामन्दी ही एक बड़ी बाधा रही है। इसके बाद धनाभाव और मितव्ययता की कमी के कारण हमारे यहाँ की शिक्षा की ऐसी अवनति हुई। शिक्षा-विभाग के अफ़सरों की रिपोर्टों से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि हमारे प्रान्त में शिक्षा के लिए खर्च की आवश्यकताओं की कभी पूर्ति नहीं हुई। हम बतला चुके हैं कि सर एन्टनी मैकडानल ने जब १८९२ ई० में हमारे प्रान्त में शिक्षा के लिए ५० हज़ार रुपये की सहायता दी, तो प्रारम्भिक पाठशालाओं के लड़कों की संख्या १ लाख ४८ हज़ार से बढ़ कर दस वर्ष बाद १९०२ ई० में २ लाख ७ हज़ार हो गयी और जब १९०३ ई० में भारत सरकार से ५ लाख रुपये की सहायता मिली तो एक ही साल में उनकी संख्या में ४८,४६१ की और वृद्धि हो गयी।

हमारे प्रान्त के डाइरेक्टर महोदय ने सन् १९०२-३ की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से यह लिखा है कि हमारे प्रान्त के शिक्षा में पिछड़े होने का कारण हमारे यहाँ की जनता की उदासीनता नहीं है। बल्कि उसका कारण यह है कि हमारे यहाँ शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाओं की बहुत कमी है। हमारे प्रान्त में तो मिस्टर ल्युई की रिपोर्ट के अनुसार, कभी इस बात की शिकायत नहीं हुई कि सरकार द्वारा खोले हुए नये स्कूलों में विद्यार्थियों की कमी रही है; बल्कि इसके विपरीत हर ज़िले से हमेशा यही पुकार आती रही है और अब तक आती है

कि नये स्कूल खोलने के लिए ज़िला बोर्डों के पास रुपया नहीं है। इसलिए भारत के अन्य प्रान्तों की चाहे जो परिस्थिति रही हो, परन्तु संयुक्त प्रान्त में तो अधिकाधिक स्कूल खोलने की माँग निरन्तर व्याप्त रही है और ये स्कूल इसलिए नहीं खोले जा सके हैं कि यहाँ की सरकार के पास धन की कमी है। मिस्टर ल्युई को इस अवस्था से इतना कष्ट हुआ था कि उन्हें अपनी रिपोर्ट में लिखना पड़ा कि जब किसी देश की प्रजा शिक्षा की माँग की पुकार उठा कर उसे प्राप्त नहीं कर पाती है, तो वह परिस्थिति किसी भी दुःखान्त नाटक से कम नहीं हो सकती।

शिक्षा-विभाग और इमदादी मदरसे

आखिरकार शिक्षा-विभाग की इस रिपोर्ट पर हमारे प्रान्त की सरकार ने सन् १९०३-४ में अपना मन्तव्य प्रकाशित करते हुए इस बात को स्वीकार किया कि हमारे प्रान्त की प्रजा प्रारम्भिक शिक्षा-प्रसार के लिए छटपटा रही है; परन्तु उसने इस बात को भी निस्संकोच भाव से स्वीकार कर लिया कि इस निरन्तर बढ़ती हुई इच्छा को पूरा करने के लिए उसके पास धन की बहुत कमी थी। इसलिए हमारी सरकार ने इमदादी मदरसे बढ़ाने की सलाह दी, क्योंकि उसके विचार में उस समय की परिस्थिति में यही सबसे सस्ते और इस माँग की पूर्ति करने के सबसे अधिक उपयुक्त साधन थे।

परन्तु हमारे प्रान्त में तो अब तक यह परम्परा चली आयी थी कि सरकारी प्रबन्ध के स्कूलों पर प्रजा की अधिक श्रद्धा

थी और हमारे यहाँ के शिक्षा-विभाग की राय थी कि यहाँ के इमदादी मदरसे इतने निकम्मे थे कि वे प्रारम्भिक शिक्षा के स्टैण्डर्ड को वहुत कुछ नीचा गिरा रहे थे। सन् १९०२ में हमारे प्रान्त के डाइरेक्टर ने इस वात की सिफ़ारिश की थी कि सर एन्टनी मैकडानल के समय से देसी मदरसों को जो सहायता मिलती चली आ रही थी, वह वन्द कर दी जाय, क्योंकि उनके विचार में इमदादी मदरसों को वढ़ाना हमारे प्रान्त में शिक्षा-प्रसार की केवल क़ाग़ज़ी खानापूरी ही कही जा सकती थी।

ग़ैरसरकारी मदरसों के सम्वन्ध में हमारे यहाँ के शिक्षा-विभाग की १९०१-२ ई० की शिक्षा रिपोर्ट में लिखा था कि इन स्कूलों में सरकारी सहायता को शिक्षा के लिए आवश्यक खर्च न समझ कर केवल भिक्षा-दान समझा जाता है। इसलिए उसके विचार में इसके निराकरण के लिए यह आवश्यक था कि सरकारी सहायता देने के नियम अधिक कड़े कर दिये जाँय और सरकारी मुआयने को अधिक सुव्यवस्थित। परन्तु इस काम के लिए इन्स्पेक्टरी अमले में वृद्धि करने की नितान्त आवश्यकता हो जाती थी।

सन् १९०३ ई० में सरकारी इमदाद के नियमों को संशोधित करके अधिक कड़ा वना दिया गया। इस प्रकार इमदादी मदरसों की स्थिति कुछ सुधर तो गयी, परन्तु अव इनके सस्तेपन के कारण इनका उपयोग इस वात की जाँच के लिए होने लगा कि किसी विशेष स्थान में वास्तव में स्कूलों की आवश्यकता थी भी

या नहीं। अगर यह इमदादी स्कूल इस जाँच में उपयोगी उतरते, तो उनके लिए इमारत बनवा कर उन्हें बोर्ड के स्कूलों में परिवर्तित कर दिया जाता था।

जिला बोर्ड और शिक्षा-विभाग ने इन स्कूलों के ऊपर अपना नियन्त्रण इतना कठोर कर रखा था कि सन् १९०४ में गवर्नमेन्ट को इस बात की शिकायत करनी पड़ी कि 'ये सब स्कूल तो एक प्रकार के घटिया बोर्ड स्कूल बन गये हैं और इसका फल यह हुआ है कि जमींदार और अन्य लोगों ने इनकी ओर से अपनी सहानुभूति और सहायता हटा ली है। इसका कारण यह था कि ये स्कूल नाममात्र को ही ग़ैरसरकारी रह गये थे, अन्यथा उनकी हर बात का दारोमदार ज़िला बोर्ड के ऊपर था।'

सरकार भी इन स्कूलों को बहुत सस्ता समझती थी और वास्तव में ये स्कूल थे भी इतने सस्ते कि सन् १८९१-९२ में इमदादी मदरसों की स्थापना से पहले लड़कों पर जहाँ ४=) और लड़कों-लड़कियों पर मिला कर ४।=) ख़र्च था, वहाँ सन् १८९७ में लड़कों पर ३=) और लड़कों-लड़कियों पर मिला कर ३।-) ख़र्च होता था। सन् १९०२ में यही ख़र्चा लड़कों पर ३।=) और लड़कों और लड़कियों पर ४-) हो गया था।

लेकिन बोर्ड के स्कूलों के शिक्षकों के लिए यह हितकर नहीं था, क्योंकि इस ख़र्चे में कमी होने से उनके वेतन पर भी असर पड़ता था और इस प्रकार के सस्ते और घटिया स्कूलों

की उपस्थिति में बोर्ड के स्कूलों का स्टैण्डर्ड भी गिर जाने की सम्भावना थी।

इमदादी स्कूलों की शिक्षा की आलोचना

बहुत दिनों तक तो इन स्कूलों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों का असन्तोष अनिश्चित सा रहा। फिर लोगों की शिकायत हुई कि इन स्कूलों में और ख़ास तौर से मिडिल स्कूलों में, परीक्षा के समय लड़कों से जो कठिन मेहनत ली जाती थी, उससे उनका स्वास्थ्य हमेशा के लिए ख़राब हो जाता था।

इस सम्बन्ध में लेखक का अपना स्वयम् का अनुभव है। जब वह इलाहाबाद के म्युनिसिपल नार्मल स्कूल का हेडमास्टर था, तो उसे मालूम हुआ कि मॉडल मिडिल स्कूल के हेडमास्टर लड़कों को रात में १ बजे तक पढ़ाते थे। उन दिनों गरमी बड़े जोर की पड़ती थी और इन लड़कों को सवेरे ही ६॥ बजे स्कूल में हाज़िर होना पड़ता था। रात को इनके पढ़ने के लिए रोशनी का भी अच्छा प्रबन्ध न था, क्योंकि मट्टी के तेल की लालटेन की धुँधली रोशनी में आँखों की ज्योति पर बुरा प्रभाव पड़ने के साथ ही साथ मट्टी के तेल का हानिकारक धुँआ भी उनकी साँस के द्वारा फेफड़े में जाता था।

लेखक ने चाहा कि इन मास्टर साहब से कह कर लड़कों को इतनी देर तक रात में पढ़ने से रोका जाय, पर वह इसमें असफल रहा, क्योंकि उनका कहना था कि इतनी मेहनत किये

विना लड़कों का परीक्षा में पास होना कठिन था और उनके स्कूल का परीक्षाफल अच्छा न होने पर उनकी वदनामी हो जायगी। वर्नाक्युलर मिडिल स्कूलों में अब तक भी यही परिस्थिति है।

ऐसे स्कूलों में शिक्षा पाये हुए लड़कों को एक वार पढ़ने-लिखने की चाट पड़ जाने से वे सदा के लिए मेहनत-मज़दूरी से जी चुराने लगते हैं और अपने पुरखाओं के कार-वार और उनके व्यवसाय से विमुख हो जाते हैं। इसीलिए लोगों में यह मशहूर हो गया था कि जो लड़का एक वार स्कूल में पढ़ने चला गया, वह सदा के लिए किसी व्यवसाय से पराङ्मुख हो गया।

१८९२ ई० में ही एक इन्स्पेक्टर साहव ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि यह वात वहुधा देखी गयी है कि जो लड़के अपर प्राइमरी परीक्षा के लिए पढ़ने के कारण प्रायः १३ वर्ष की आयु से १५ वर्ष की आयु तक स्कूलों में रह जाते हैं, वे खेत पर काम करने से जी ही नहीं चुराते, वल्कि उसके लिए विलकुल अयोग्य हो जाते हैं। फिर इनमें से १०० पीछे १ लड़के को भी लिखने-पढ़ने का काम नहीं मिलता और इसलिए ये लोग घर पर निठल्ले वैठने के आदी हो जाते हैं और अपने अभिभावकों को इस वात की शिकायत करने का अवसर देते हैं कि उन्हें स्कूल में भेजना उन लोगों की वड़ी भारी ग़लती हुई।

इस प्रकार इस शिक्षा-प्रणाली के विरोध में दो शिकायतें मुख्य थीं। एक तो इस पढ़ाई का प्रभाव लड़कों के स्वास्थ्य पर

बड़ा हानिकर पड़ता था; दूसरे उनका पाठ्यक्रम इतना अधिक कृत्रिम था कि उनके वातावरण के बिलकुल प्रतिकूल था। फिर नौकरी के लिए लालायित युवकों की दिन-प्रति-दिन बढ़ने वाली संख्या देख कर बहुत से विचारवान लोगों को बड़ी चिन्ता होने लगी थी।

देहाती स्कूलों के पाठ्यक्रम में उन्नति करने की चेष्टा

इस असन्तोष ने बढ़ते-बढ़ते ऐसा भयङ्कर रूप धारण कर लिया कि १८९९ ई० में हमारे प्रान्त के कुछ प्रभावशाली मनुष्यों ने प्रान्तीय सरकार के पास एक प्रार्थनापत्र भेज कर इस बात की शिकायत की कि इन स्कूलों का पाठ्यक्रम देहाती लड़कों के लिए बिलकुल अनुपयुक्त था और इस शिक्षा-क्रम का उनके स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा असर पड़ रहा था। आखिर गवर्नमेन्ट को डी० टी० राबर्ट साहब के सभापतित्व में एक कमिटी नियुक्त करनी पड़ी, जिसका काम शिक्षा-क्रम की उन बुराइयों को देखना और उनके सम्बन्ध में सरकार को अपनी रिपोर्ट देना था, जिनकी जनता को शिकायत थी। इस प्रकार शिक्षा-क्रम की जाँच करने और उसे सुधार कर जन-साधारण की आवश्यकताओं के योग्य बनाने का यह सबसे पहला नियमित प्रयत्न हुआ।

अब तक देहाती और क़स्बाती मदरसों के शिक्षा-क्रम में कोई भेद न था; परन्तु अब इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि देहातों में शिक्षा को देहात के वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए लड़कों को कृषि सिखाना भी बहुत आवश्यक

था। इस कमिटी ने यह भी अनुभव किया कि इस शिक्षा-क्रम में हस्तकौशल की नितान्त उपेक्षा होने से लड़कों के हाथ और आँख बिल्कुल नहीं सध पाते। इन सब बातों पर विचार करके कमिटी ने इस बात की सिफ़ारिश की कि प्रारम्भिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम में कृषि और ड्राइङ्ग दोनों आवश्यक विषय कर दिये जाँय। इसी समय यह भी मालूम हुआ कि गणित का पाठ्यक्रम विद्यार्थियों की आवश्यकता से अधिक था और क्रमबद्ध भी नहीं था, इसलिए इसको काट-छाँट कर हलका और क्रमबद्ध कर दिया गया।

इस समय तक प्रायः ५-६ घंटे तक स्कूल लगता था और बीच में कोई छुट्टी न होती थी, परन्तु रोबर्ट्स कमिटी ने यह सिफ़ारिश की कि लोअर प्राइमरी और प्रारम्भिक कक्षाओं में केवल ३ घण्टे तक शिक्षा दी जाय और किसी स्कूल में एक बार ३ घंटे से अधिक देर तक पढ़ाई की आज्ञा न दी जाय। इस प्रकार शिक्षा-क्रम में यह पहला सुधार हुआ और साथ ही यह सिद्धान्त भी मान लिया गया कि स्कूलों की शिक्षा विद्यार्थी-जीवन के वातावरण के अनुकूल होनी चाहिए।

सन् १९०४ में लार्ड कर्ज़न का शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्ताव

इधर हमारे प्रान्त में जिस समय प्राइमरी शिक्षा प्रचार के विषय में जाँच-पड़ताल हो रही थी और हमारे प्रान्त की शिक्षा सम्बन्धी नित नयी आवश्यकताओं को स्वीकृत किया जा रहा था, उसी समय लार्ड कर्ज़न ने भारत सरकार को प्रेरित करके शिक्षा-

प्रचार में नवीन जीवन का सञ्चार कर दिया। सन १९०४ के सरकारी प्रस्ताव में शिक्षा-प्रचार के अभाव को स्वीकार कर लिया गया था और यह भी मान लिया गया था कि सरकार की ओर से इस विभाग को अधिक सहायता और प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है।

सन् १९०४ के इस प्रस्ताव में वही बात, जो सरकार सन् १८५४ से बराबर कहती चली आ रही थी, इन शब्दों में दुहरा दी गयी थी—"सरकार को प्राइमरी शिक्षा-प्रचार सम्बन्धी आवश्यकता की महत्ता पूर्णतया स्वीकार है और यह सरकार का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि वह उसे कार्य में परिणत करे।" सरकार ने इस बात को भी स्वीकार किया—जैसा लार्ड लारेन्स ने सन् १८६८ में ही कहा था—कि हमारे शासन प्रबन्ध के स्थायी होने में जिन कठिनाइयों और आपत्तियों की सम्भावना है, उनमें कुछ ही इतनी भयानक हैं जितनी इस देश की प्रजा की निरक्षरता। इन सब बातों का इतना ही सार निकलता है कि शासन की सुव्यवस्था के लिए प्रजा में शिक्षा-प्रचार करना आवश्यक था।

टामसन साहब के देहान्त के ५० वर्ष बाद भी लार्ड कर्ज़न की योग्यता के सुशासक के मुँह से सन् १९०४ के शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्ताव में यह सुनकर बड़ा आश्चर्य होता है कि उनके विचार में 'देहाती स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करने के पूर्व गाँव के पटवारी और साहूकार के क़ागज़ात

पढ़ने और समझने की योग्यता की बड़ी आवश्यकता है और इसलिए इस हिसाब-किताब की शिक्षा पाठ्य-क्रम में अवश्य होनी चाहिए, ताकि कृषक की हैसियत से उसे गाँव के हिसाब-किताब की पेचीदगी समझ लेने में सुविधा रहे।' इस ५० वर्ष के अनुभव से भी उन लोगों को अब तक यह नहीं मालूम हुआ था कि देहात के लड़कों के लिए, जो प्रायः मदरसे में ११ वर्ष की आयु के बाद मुश्किल से ठहर पाते थे, पटवारी के क़ागज़ात का समझ लेना कितनी कठिन समस्या थी।

इसके सिवाय इस प्रस्ताव में जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार और उसकी उन्नति की मन्द गति का रोना रोया गया था, वहाँ उसमें यह बात भी स्वीकार की गयी थी—जो सब लोगों को प्रत्यक्ष ही थी—कि 'भारत सरकार इस परिणाम पर पहुँचने से अपनी आँख नहीं बन्द कर सकती कि प्रारम्भिक शिक्षा की ओर अब तक बहुत कम ध्यान दिया गया है और उस पर सरकार की ओर से बहुत कम रुपया खर्च किया गया है। इसलिए भारत सरकार और प्रान्तीय सरकार दोनों ही की सहानुभूति इस ओर होना परम आवश्यक है, ताकि प्रारम्भिक शिक्षा-प्रसार के ऊपर प्रान्तीय आय का बहुत बड़ा हिस्सा खर्च किया जाय और उन प्रान्तों में जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा बहुत हीन अवस्था में है, उसके प्रचार का प्रोत्साहन परम आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाय।'

जब बम्बई और बङ्गाल में सैकड़े पीछे क्रमशः २२ और २३ लड़के स्कूल जाते थे तब संयुक्त-प्रान्त में, सैकड़े पीछे केवल ९ लड़के शिक्षा पा रहे थे। इसलिए इसे प्रोत्साहन की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। हम यह बात पहले ही बतला चुके हैं कि हमारे प्रान्त की जन-संख्या और उसकी आवश्यकता के अनुपात में हमारे प्रान्त को सबसे कम सहायता और प्रोत्साहन मिला था। परन्तु इस सब कार्रवाई और उथल-पुथल का परिणाम उलटा ही हुआ; क्योंकि यद्यपि १९०२ ई० के ९,४६,७८६ रुपये के खर्च के बजाय सन् १९०७ में प्रान्तीय और स्थानीय आय में से प्रारम्भिक शिक्षा पर १२,८१,३११ रुपये खर्च हुए, तो भी प्रारम्भिक शिक्षा पर जहाँ सन् १९०२ में समस्त शिक्षा-व्यय का ३६·७ प्रतिशत खर्च हुआ, वहाँ अब १९०७ ई० में यह खर्चा केवल २६ प्रतिशत रह गया। १९०२ ई० में प्रान्तीय आय में से सब प्रकार का खर्चा मिला कर शिक्षा पर २५,७८,३५० रुपये खर्च हुए थे और सन् १९०७ में यह खर्चा ४९,२७,६५४ रुपया था।

इस प्रकार जहाँ तक हमारे प्रान्त का सम्बन्ध है, सन् १९०४ के शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्ताव के कार्य में परिणत करने का यह उलटा परिणाम हुआ। लेकिन यह सब होते हुए भी सन् १९०२ की अपेक्षा सन् १९०७ में १,०१,७८१ प्रारम्भिक स्कूल अधिक बढ़ गये। स्कूलों की संख्या-वृद्धि से ही इस उन्नति का आभास नहीं होता, वरन् इनके काम से भी होता है, क्योंकि भारत सरकार

ने जो विशेष सहायता इस समय दी, उसे हमारे यहाँ के शिक्षा-विभाग ने अध्यापकों की वेतन-वृद्धि में खर्च कर दिया। इससे न केवल हमारे यहाँ के पढ़ाने वाले अध्यापकों को ही प्रोत्साहन मिला, वल्कि अध्यापन-कार्य के लिए अधिक योग्यता के लोग आकर्षित होने लगे।

परन्तु इस वृद्धि के वाद भी देहाती स्कूलों के अध्यापकों के वेतन की दर, जो गवर्नमेन्ट की ओर से नियत थी, कम से कम ८) मासिक थी और जिन लोगों को १०) या इससे अधिक मासिक वेतन मिलता था, उन्हें प्राविडेण्ट-फण्ड का भी लाभ दिया गया था। इस प्रकार अधिकांश अध्यापकों को तो कम से कम तनख्वाह लेकर ही सब्र करना पड़ता था। सन् १९१२ तक इन लोगों की यही दशा रही, क्योंकि इस वक्त भारत सरकार के प्रस्ताव के अनुसार देहाती मदरसों के अध्यापकों के वेतन की दर कम से कम १२) मासिक हो गयी थी।

आठवाँ अध्याय

अनिवार्यता का सूत्रपात

शिक्षा पर राजनीति का भाव

नवीन भारत के राजनीतिक आन्दोलन के प्रचण्ड स्वरूप का सर्वप्रथम दर्शन लार्ड कर्ज़न के शासन-काल में हुआ था। सारे देश की सर्वव्यापी जागृति और राजनीतिक आभास के आन्दोलन से जनता का ध्यान देश की शिक्षा की अधोगति की ओर आकर्षित हुए बिना न रह सका। अब सामाजिक, जातीय तथा भारतीय राष्ट्र सभाओं के सभामञ्च से शिक्षा-प्रचार के लिए पुकार होने लगी थी। प्रारम्भिक शिक्षा की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित हो गया था और जैसे-जैसे राष्ट्रीयता के भाव जागृत होते गये, उसकी आवश्यकता भी अनुभूति होने लगी थी।

सन् १९०५ में बनारस काँग्रेस के अधिवेशन में गोपालकृष्ण गोखले ने सभापति की हैसियत से कहा था, 'हम विशेष रूप में इस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं कि देश में आय के जितने भी साधन हैं, उनकी सहायता से, जनता को शिक्षा-प्रचार द्वारा तथा अन्य ऐसे ही साधनों द्वारा, योग्य और उन्नत बनाने की चेष्टा की जाय।' अपनी सुधार-योजना में जिन चार बातों का उन्होंने

प्रस्ताव तथा समर्थन किया था, उसकी चौथी बात यह थी कि जनता की अवस्था को सुधारने के लिए जो भी उपाय उपयुक्त हों, उनका नियोजन कर प्रारम्भिक शिक्षा का प्रसार बड़े जोरों के साथ किया जाय।

इस प्रकार आगे चल कर अन्य बातों की माँग के साथ-साथ प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार की माँग भी राजनीतिक कारणों से की जाने लगी। इस परिस्थिति ने राजनीतिज्ञों को भी शिक्षा-प्रसार के क्षेत्र में लाकर खड़ा कर दिया और भारतीय तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में भी इस विषय की चर्चा होने लगी। देश में कतिपय वर्षों के लगातार आन्दोलन होते रहने के बाद गोखले ने सन् १९१० में सब से पहले अपना 'प्रारम्भिक-शिक्षा का मसविदा' पेश किया। इसमें उन्होंने निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रचार प्रारम्भ करने की सिफ़ारिश की थी और यह भी प्रस्ताव किया था कि इसकी रूप-रेखा का निर्णय करने के लिए एक कमीशन नियुक्त कर दिया जाय।

उनकी योजना के अनुसार स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं (लोकल बोर्डों) को अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में निःशुल्क एवम् अनिवार्य शिक्षा के प्रचार करने का अधिकार मिलना चाहिए था। इस अनिवार्य शिक्षा-प्रचार का समय से पूर्व ही दुरुपयोग बचाने के लिए उन्होंने यह व्यवस्था रखी थी कि यह क्रम केवल उसी क्षेत्र में जारी किया जाय, जहाँ शिक्षा-योग्य-आयु के कम से कम ३३ प्रतिशत बालक शिक्षा पा रहे हों। इस योजना

के अनुसार यदि इस प्रकार अनिवार्य शिक्षा का प्रचार किया जाता, तो वह बिलकुल निःशुल्क होनी चाहिए थी और इसके अतिरिक्त व्यय का भार १ और २ के अनुपात में क्रमशः लोकल बोर्डों तथा सरकार को वहन करना चाहिए थी।

इस प्रस्ताव ने देश में बड़ी हलचल फैला दी और इसका अनुमोदन करने के लिए जनता ने अनेकों सभाएँ कीं। इस प्रस्ताव के उद्देश्य के प्रति अपनी यथेष्ट सहानुभूति प्रदर्शित करने पर भी सरकार ने इस का विरोध इस आधार पर किया कि अभी शिक्षा को अनिवार्य करने की अवस्था नहीं आ पायी थी, क्योंकि अभी तो लोगों में स्वेच्छा से ही शिक्षा की ओर अग्रसर होने की इच्छा प्रबल थी। इसका प्रमाण यह था कि स्कूल खुलते ही विद्यार्थियों से भर जाते थे। इससे यह भी प्रकट होता था कि अभी शिक्षा की अवस्था इतनी उन्नत नहीं हो पायी थी कि उसे अनिवार्य किया जाय, बल्कि अभी तो आवश्यकता थी अधिक स्कूल खोलने की।

सरकार की ओर से यह भी कहा गया था कि सब बातों का विचार करते हुए इस देश में प्राइमरी शिक्षा बड़ी अवनत अवस्था में थी और यदि ऐसी परिस्थिति में शिक्षा को अनिवार्य करके स्कूलों की संख्या बढ़ा दी जायगी तो उसकी और भी अधिक अवनति हो जायगी। इस योजना में व्यय की अधिकता भी बाधक बतायी गयी थी। इस योजना को कार्य रूप में परिणत करने के लिए अतिरिक्त व्यय की जो आवश्यकता होगी,

उसकी पूर्ति के लिए ज़िला बोर्डों को कर लगाने का अधिकार मिले, इस पर कुछ ग़ैरसरकारी सदस्यों ने भी आपत्ति की थी; क्योंकि गोखले का यह भी कहना था कि शिक्षा को अनिवार्य करने का अर्थ यह भी होगा कि जो बालक स्कूल में पढ़ने जाँयगे, उनके पठन-पाठन के लिए आवश्यक सुविधाएँ उपस्थित करना भी बोर्ड का कर्त्तव्य होगा। सरकार ने प्रारम्भिक शिक्षा-क्रम में कार्यक्षमता की आड़ में जो आपत्ति की थी, उससे भी गोखले अधिक प्रभावित न हुए थे।

उन्होंने कहा, "जो लोग ऐसी आपत्तियाँ उपस्थित करते हैं, वे सर्वसाधारण में शिक्षा-प्रचार का मुख्य ध्येय ही नहीं समझते। सर्वसाधारण में शिक्षा-प्रचार का उद्देश्य इतना ही है कि देश से निरक्षरता का विनाश कर दिया जाय। शिक्षाक्रम के दोषादोष का प्रश्न तो तभी उठना चाहिए, जब कि देश में अविद्या का लोप हो गया हो। इस मुख्य उद्देश्य को मानते हुए अभी तो ऐसे अध्यापकों की आवश्यकता होगी जो भाषा और साधारण गणित आदि पढ़ाने योग्य हों। फिर या तो किराये के मकानों से ही काम चलाया जायगा या स्कूल खोलने के निमित्त कुछ समय के लिए यह मुफ़ माँगने पड़ेंगे।"

"इसका यह आशय नहीं है कि मैं ट्रेनिंग प्राप्त अध्यापकों की आवश्यकता तथा उनकी उपयोगिता नहीं समझता हूँ। परन्तु मेरा कहना तो यह है कि हम उस समय तक देश की सर्वव्यापी

अविद्या को दूर करने की चेष्टा करने से रुके नहीं रह सकते, जब तक ये सब दोष दूर न कर दिये जाँय।"

विरोधी मतामत

हिन्दुस्तानी नेताओं को इस बात में पक्का विश्वास था कि देश की उन्नति के लिए लिखना-पढ़ना और साधारण हिसाब जानना परम आवश्यक है, लेकिन शिक्षा-विभाग के बाहर कुछ सरकारी अफ़सरों और ग़ैरसरकारी लोगों का विचार इनसे कुछ विभिन्न था और ये लोग प्रारम्भिक शिक्षाक्रम में विभिन्न विषयों की जानकारी पर विशेष ज़ोर देते थे।

हमारे प्रान्त में भी इन दोनों विचारों के लोग मौजूद थे और हमारे यहाँ के डाइरेक्टर सर क्लाड डि ला फ़ोस ने कहा भी था कि हमारे यहाँ जहाँ एक ओर ऐसे लोग मौजूद हैं जिनके विचार में प्रारम्भिक स्कूलों को कृषि, सफ़ाई, प्लेग, और मलेरिया, कुत्ते और साँप काटने का इलाज, मालगुज़ारी और लगान का क़ानून, कोआपरेटिव समितियाँ, रेशम का व्यवसाय और सूत के बाज़ार भाव जैसे आवश्यक और उपयोगी बातों की जानकारी कराना ज़रूरी है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे भी लोग मौजूद हैं जो प्रारम्भिक शिक्षा-क्रम में पढ़ाने-लिखाने और साधारण हिसाब के अतिरिक्त ड्राइङ्ग, मट्टी के खिलौने बनाना या प्रकृति-निरीक्षण या भूगोल तक को कोई स्थान नहीं देना चाहते। जहाँ एक ओर कुछ लोगों का विश्वास था कि प्रारम्भिक शिक्षा का रुझान ग्राम्य-जीवन की ही ओर नहीं, बल्कि व्यावहारिकता की

भी ओर होना चाहिए, वहाँ दूसरे लोगों का विचार था कि केवल लिख-पढ़ लेने की योग्यता से ही देश की राजनीतिक और सामाजिक उन्नति हो सकती है।

शिक्षा को ग्रामीण रूप देने की चेष्टाएँ

हमारे प्रान्त की ग्राम्य-शिक्षा के ऊपर इन दोनों मतों का प्रभाव लगातार पड़ता रहा है और जहाँ एक ओर हमारे यहाँ की प्रारम्भिक शिक्षा को ग्रामीण जनता की परिस्थिति के अनुसार मोड़ने की प्रबल चेष्टाएँ की गयी हैं, वहाँ दूसरी ओर प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार में ऐसी प्रगति भी बराबर आती जा रही है, जो इसके रुख को जनता की अभिरुचि के अनुसार अनिवार्यता की ओर लिये जा रही है।

सन् १९१० में राजा बहादुर कुशलपालसिंह ने, जो प्रारम्भिक शिक्षा को ग्रामीण जनता के अनुरूप बनाने के पक्षपाती हैं, हमारी प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा में प्रारम्भिक स्कूलों के लिए उपयुक्त पुस्तकों का प्रस्ताव उपस्थित करते हुए कहा था कि देहात के बालकों के लिए उपयुक्त वातावरण, कृषि-सम्बन्धी ही हो सकता है, इसलिए इनकी पाठ्य पुस्तकों में तो इसी प्रकार के पाठ रखना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए उनके विचार में सफ़ाई और स्वास्थ्य से लेकर कृषि-विधान तक इन पाठ्य-पुस्तकों के पाठ्य-विषय होने चाहिए।

प्रान्तीय सरकार ने राजा बहादुर साहब के इस प्रस्ताव के सिद्धान्त का अनुमोदन करते हुए इसमें बतलाये हुए ब्योरे के

ऊपर अपनी कोई निश्चित राय प्रकट नहीं की, परन्तु इस प्रस्ताव का फल यह हुआ कि ग्रामीण शिक्षा कमिटी के नाम से एक ज़बर्दस्त कमिटी बन गयी, जिसके सुपुर्द सारे ग्रामीण-शिक्षा-क्रम पर विचार करना था और प्रारम्भिक स्कूलों में पढ़ाये जाने के लिए प्रकृति-निरीक्षण का नया पाठ्यक्रम और पाठ्य-पुस्तकों की नयी आयोजना बनाना था। इस कमिटी ने प्रकृति निरीक्षण और प्राकृतिक पाठ तथा अन्य कई बातों के सम्बन्ध में अपनी सिफ़ारिशें पेश कीं, जिनको कुछ समय बाद प्रारम्भिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में बढ़ा दिया गया।

जिस समय यह कमिटी अपनी योजना पर विचार कर रही थी, उसी समय सरकारी शिक्षा-विभाग ने सन् १९१० की शिक्षा-रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसमें इस बात का रोना रोया गया था कि प्रारम्भिक स्कूलों की संख्या ही नहीं घटती जा रही है, बल्कि उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थी भी दिन प्रति दिन कम होते जा रहे हैं। इस अवनति का कारण यह था कि हमारे प्रान्त में पिछले कई वर्षों से दुर्भिक्ष, जलबाढ़ और प्लेग तथा हैज़ा और सूखा का प्रकोप हुआ था और इन सब आपत्तियों ने मिल कर हमारे प्रान्त की आय को बहुत अधिक घटा दिया था। इसी कारण सरकार को १९१० ई० में बहुत से ख़र्चों में कमी करनी पड़ी थी।

उस समय के डाइरेक्टर सर क्लाड डि ला फ़ोस की राय में यह अवनति दुर्भिक्ष और आकस्मिक रोगों के साथ-साथ बहुत

से अनावश्यक स्कूलों को खुले रखने के बजाय बन्द कर देने से; विद्यार्थियों की उपस्थिति में कड़ाई करने तथा सदा अनुपस्थित रहने वाले विद्यार्थियों के नाम काट देने से और सबसे अधिक धनाभाव से हुई थी।

डि ला फ़ोस साहब का कहना था कि पिछली किसी भी शिक्षा-रिपोर्ट में विद्यार्थियों की संख्या की कमी का कारण शिक्षा-क्रम की अनुपयुक्तता नहीं बतलाया गया और उन्हें तो इस बात का आश्चर्य था कि ऐसी ज़बर्दस्त बाधाएँ पड़ने पर भी हमारे यहाँ के विद्यार्थियों की संख्या इतनी ही कम हुई।

परन्तु फिर भी गवर्नमेन्ट को इस बात का पूरा विश्वास नहीं था कि यह अवनति कुछ ऐसे कारणों से हुई है, जो हमारे देश में शिक्षा की उन्नति में बाधक हो रहे हों, यद्यपि उसे इस बात का शक था कि कहीं नये शिक्षा-क्रम के कारण ही यह बात न हुई हो। चूँकि इस शिक्षा-क्रम के बहुत से आलोचकों का यह मत था कि जो शिक्षा इन नये स्कूलों में दी जा रही थी, वह जनता के उपयुक्त न थी, इसलिए सरकार ने शिक्षा-प्रसार की अवनति और अड़चन के कारणों की जाँच के लिए एक कमिटी नियुक्त की।

इस कमिटी ने एक प्रश्नावली तैयार करके उसे जिला बोर्डों के चेयरमैन, शिक्षा-विभाग के बहुत से अफ़सरों तथा शिक्षा से सम्पर्क रखने वाले और उससे रुचि प्रदर्शन करने वाले ग़ैर-सरकारी सज्जनों के पास भेजकर, उनकी सम्मति तथा विचार

प्राप्त करने की चेष्टा की; परन्तु इतनी जाँच करने पर भी इस अवनति के कोई और विशेष कारण प्रकट न हो सके।

शिक्षा-प्रसार की उन्नति की चेष्टाएँ

इसी समय प्रारम्भिक शिक्षा को सर्वव्यापो बनाने में, जन-साधारण की अभिरुचि के अनुकूल अनिवार्यता प्रयोग में लाने के अनवरत परिश्रम ने भारत सरकार को भी इस ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य किया। सन् १९१३ में उसने फिर एक गवेषणा प्रकाशित की, जिसमें देशव्यापी निरक्षरता और अविद्या दूर करने के निमित्त स्कूलों और उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या को तुरन्त दुगना कर देने का विचार किया गया था और प्रान्तीय सरकारों से प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति के लिए नयी-नयी योजनाएँ तलब की गयी थीं। हमारे प्रान्त की सरकार ने शिक्षा-विभाग के अफ़सरों और ज़िला बोर्डों की सहायता से कोई व्यावहारिक और उपयुक्त योजना तैयार करने की कई विफल चेष्टाओं के बाद, जस्टिस पिगट की अध्यक्षता में एक कमिटी नियुक्त की। उसका काम सरकार को इस बात की सलाह देना था कि प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति के लिए क्या-क्या प्रयत्न किये जाँय, तथा प्रारम्भिक शिक्षा पर जो धन व्यय हो रहा था, उसका सबसे अधिक लाभदायक उपयोग क्या हो।

इस कमिटी की नियुक्ति से प्रारम्भिक शिक्षा-प्रसार की उन्नति ही न हुई, बल्कि उसे जन-साधारण के उपयुक्त बनाने के सजग प्रयत्न का भी श्रीगणेश हुआ। इस कमिटी ने देसी

शिक्षा-सम्बन्धी सारी योजना की अच्छी तरह से जाँच करके सबसे पहली बार इस बात के ऊपर आवश्यक प्रकाश डाला कि हमारे यहाँ के प्रारम्भिक शिक्षा-क्रम में कितना अधिक अपव्यय हो रहा था। उस समय की परिस्थिति के अनुसार जितने बालक बाल-कक्षाओं में प्रवेश करते थे, उनमें से प्रति सैकड़ा केवल १० या १२ ही अपर प्राइमरी कक्षाओं तक पहुँच पाते थे। इससे प्रकट है कि जो लड़के इन कक्षाओं तक पहुँचने के पहले ही स्कूल छोड़ बैठते थे, उन पर तो इस शिक्षा का कोई स्थायी प्रभाव पड़ता ही न था। हमारे यहाँ के गाँवों के वातावरण, में जहाँ घोर अविद्या का साम्राज्य था, लिखने-पढ़ने और हिसाब की पूरी योग्यता ही काम आ सकती थी। इस अधोगति का सबसे प्रमुख कारण, पिगट कमिटी के मतानुसार, यह था कि हमारे यहाँ उत्तर-प्रारम्भिक शिक्षा के लिए उपयुक्त सुविधाओं का सर्वथा अभाव था।

इसलिए इस कमिटी ने यह सिफ़ारिश की कि हमारे सूबे के प्रत्येक गाँव के लिए एक ऐसी प्रारम्भिक पाठशाला होनी चाहिए, जहाँ आस-पास के गाँवों के लड़कों के पहुँचने में सुविधा हो। इसी योजना में यह उल्लेख किया गया है कि प्रत्येक ज़िले को कुछ ऐसे विभागों में बाँटना चाहिए कि हर विभाग में एक प्रारम्भिक पाठशाला खोली जा सके और जिसकी सहायता के लिए आस-पास बहुत सी बाल-कक्षा तक पढ़ाने वाली पाठशालाएँ मौजूद हों। ऐसा एक प्रारम्भिक केन्द्र २५ वर्गमील के क्षेत्र से अधिक बड़ा न होना चाहिए और ऐसे प्रत्येक प्राइमरी क्षेत्र में, जिसमें

एक प्राइमरी पाठशाला और उसकी सहायक पाठशालाएँ हों, लगभग २०० से अधिक विद्यार्थी न होने चाहिए।

यह सिफ़ारिश इस विचार से की गयी थी कि इससे स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या बढ़ जायगी। इसलिए जब सन् १९१६-१७ में यह योजना कुछ हेर-फेर के साथ हमारे प्रान्त के अधिकांश जिलों में जारी की गयी, तो उसी साल प्रायः ३०,००० विद्यार्थी अधिक बढ़ गये। परन्तु यह वृद्धि केवल नीची कक्षाओं में ही हुई थी, और हर गाँव के पास ही केन्द्रीय प्रारम्भिक पाठशालाएँ खुल जाने पर भी हमारे यहाँ के बालकों के अभिभावकों में यह उत्साह उत्पन्न न हो सका था कि वे अपने बालकों को अधिक समय तक स्कूलों में पढ़ने के लिए रख सकते। इससे यह प्रकट हुआ कि हमारे यहाँ के जन-साधारण की माँग केवल प्रारम्भिक शिक्षा के नीचे दरजों तक ही परिमित थी, क्योंकि जब सरकार ने इनके लिए पूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध किया तो हमारे यहाँ की जनता ने उससे कोई लाभ नहीं उठाया।

पाठ्यक्रम में उन्नति करने की दूसरी चेष्टाएँ

इसके बाद कमिटी का ध्यान पाठ्यक्रम में उन्नति करने की ओर आकर्षित हुआ। इन लोगों का यह विश्वास नहीं था कि लिखना-पढ़ना और साधारण हिसाब-किताब सिखा देना मात्र ही प्रारम्भिक शिक्षा का ध्येय होना चाहिए। वे तो शिक्षा को वातावरण के अनुकूल बनाना भी परम आवश्यक समझते थे। इसलिए उन्होंने प्रकृति-निरीक्षण और वस्तु-पाठ की एक नयी

संशोधित योजना तैयार की, जिसके अनुसार स्कूलों में बालकों को प्राकृतिक पाठ का व्यावहारिक ज्ञान कराने के लिए उन्हें बगीचा लगवाने का भी प्रोत्साहन दिया गया था।

इस कमिटी ने लोगों की इस आलोचना पर भी विचार किया कि हमारे प्रारम्भिक स्कूलों के विद्यार्थियों की शिक्षा उनके जीवन के वातावरण से कोई सम्बन्ध नहीं रखती और इसलिए पटवारी के कागज़ात पढ़ने, बहीखाता, खतौनी, स्याहा, पट्टा, रसीद तथा गाँव के कारबार-सम्बन्धी अन्य सब कागज़ात के लिखने-पढ़ने की शिक्षा का फिर से प्रबन्ध किया जाय। इनकी योजना के अनुसार पाठ्य-पुस्तकों में सफ़ाई और स्वास्थ्य, कुओं और नहरों की आबपाशी, मवेशियों की रक्षा और इनकी वृद्धि, बाग़ लगाना तथा कृषि-सहकारिता की उपयोगिता आदि विषय भी शामिल किये गये।

सन् १९१४ में पिगट कमिटी की रिपोर्ट में सरकार की ओर से जो मन्तव्य प्रकाशित हुआ, उसमें पाठ्य-पुस्तकों में शराब, अफ़ीम, गाँजा और तम्बाकू आदि के निषेध में भी ऐसे पाठ दिये जाने की योजना की गयी थी, जिनसे लड़कों के मस्तिष्क में इन चीज़ों के उपयोग के विचार न उत्पन्न हों। इस योजना के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि प्रारम्भिक स्कूलों की सबसे ऊँची कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की औसत आयु ११ वर्ष से अधिक नहीं होती, तो उनके लिए पाठ्य-पुस्तकों में ऐसे-ऐसे

गूढ़ विषय रखना उनके नित्य-प्रति के जीवन के वातावरण का दुरुपयोग करना था।

परन्तु इन सब विषयों के पढ़ाने के लिए ऊँचे दरजे के अध्यापकों की भी आवश्यकता थी। साथ ही सब लोगों की यह भी राय थी कि प्रारम्भिक पाठशालाओं में भाषा की पढ़ाई अन्य सब विषयों से रद्दी होती है। चूँकि इन कक्षाओं के पढ़ाने के लिए वर्नाक्युलर मिडिल पास मास्टर ट्रेनिङ्ग में भरती कर लिये जाते थे, इसलिए इस कमिटी ने यह भी सिफ़ारिश की कि मिडिल कक्षा के कोर्स में एक साल की वृद्धि कर दी जाय। यह सिफ़ारिश नितान्त अनावश्यक थी, क्योंकि न तो इससे मिडिल की परीक्षा के स्टैण्डर्ड में कुछ उन्नति होने को थी और न मिडिल परीक्षा पास विद्यार्थियों की योग्यता ही में।

इस कमिटी ने अपनी सिफ़ारिशों में दोनों प्रकार के समालोचकों के विचारों को सन्निहित करने की कोशिश की थी। जहाँ उसने एक ओर हर गाँव के लड़कों के लिए प्रारम्भिक शिक्षा दिये जाने के प्रबन्ध के लिए नये-नये स्कूल खोलने की व्यवस्था की थी, वहाँ दूसरी ओर उसने गाँव के ज़मींदार और अन्य लोगों के बालकों के लिए शिक्षा-क्रम को आकर्षक और उपयोगी बनाने का भी प्रयत्न किया था। परन्तु इस कमिटी की इन सिफ़ारिशों को मान कर उनके अनुसार काम करने पर भी स्कूलों के खोलने में जितना खर्च हुआ, तथा इनके उन्नत करने में जितनी चेष्टाएँ करनी पड़ीं, उसके अनुपात में विद्यार्थियों की संख्या में

वृद्धि नहीं हो सकी। सबसे अधिक खेदजनक बात तो यह हुई कि अपर प्राइमरी कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक न बढ़ी।

महा समर का प्रभाव

इसलिए सर हारकोट बटलर ने हमारे प्रान्त में लोगों की स्वेच्छा और स्वचेष्टा के परिणाम-स्वरूप साक्षरता बढ़ाने के लिए एक बार फिर सदुद्योग करने की चेष्टा की और इस बात को महा-समर और भारत सरकार दोनों ही की सहायता से बहुत कुछ प्रोत्साहन मिला। इस लड़ाई में बहुत से विचारों की जाँच हो गयी और यह भी अनुभव हो गया कि साम्राज्य के नागरिक की हैसियत से भारतीय किसान का क्या दरजा था। भारतवर्ष के हज़ारों नवयुक सिपाही युरोप, आफ्रिका और एशिया के दूरस्थ प्रदेशों में लड़ाई लड़ने गये और वहाँ से नये-नये विचार लेकर लौटे। साथ ही लड़ाई के कारण अधिक उथल-पुथल ने भी देश के छोटे से छोटे गाँव में भी एक नयी जागृति उत्पन्न की थी।

इसी समय जब कि महासमर खूब ज़ोरों पर था, २० अगस्त सन् १९१७ के दिन हमारे भाग्य-निर्णायक नव विधान की घोषणा की गयी। इस विधान के अनुसार ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारतवर्ष के लिए सबसे पहली बार स्वराज्य का ध्येय स्वीकार किया गया और इसकी प्राप्ति के लिए जो सबसे पहली चेष्टाएँ की गयीं, उनमें यह निश्चय किया गया कि हमारे देश का शासन-विधान जन-सत्तात्मक सिद्धान्तों के अनुकूल बनाया जाय। इसके

अनुसार यह भी निश्चय हुआ कि जो अधिकार इस समय हमारे देश में सरकारी अफ़सरों को प्राप्त हैं, वे उस प्रजा के मनोनीत सदस्यवर्ग के हाथ में दे दिये जांय, जिसका अधिकांश भाग अभी बिल्कुल अशिक्षित था। इससे प्रकट है कि राज-नीतिक कारणों से भी जनसाधारण में प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार की आवश्यकता नितान्त अपेक्षित हो गयी है।

इसलिए सन् १९१८ में भारत-सरकार ने प्रान्तीय सरकारों के पास एक सर्क्युलर भेजकर इस बात की आवश्यकता प्रकट कि इस नयी परिस्थिति में प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार के लिए एक निश्चित योजना बना लेने की अत्यन्त आवश्यकता है। सरकार ने इस बात की आशा प्रकट की कि जितने अधिक लोगों को वोट देने का अधिकार प्राप्त होता जायगा, उतनी ही अधिक प्रारम्भिक शिक्षा-प्रचार की आशा प्रतीत होने लगेगी। चुनाँचे सन १९१८ में ही हमारी प्रान्तीय सरकार ने एक योजना तैयार की जिसके अनुसार ३ वर्ष के अल्प समय में ही स्कूलों और उसमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों में ६० प्रतिशत् वृद्धि हो सके, और नये स्कूलों के खुलते समय प्रत्येक गाँव से उनका कितना फ़ासिला हो, इसका कोई ख़ास नियम न माना जाय। ऐसे स्कूल खुलते समय केवल यही बात देख लेना आवश्यक थी कि उनके लिए स्थानीय माँग कितनी अधिक प्रामाणिक थी।

इस समय हमारे प्रान्त की सरकार इस ओर जितनी अधिक उत्साहपूर्ण थी, उतनी ही अधिक उदार भी हो गयी,

क्योंकि सन् १९१८-१९ से लेकर १९२३-२४ ई० में ५ वर्ष के भीतर ही देसी शिक्षा के लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की सालाना सहायता १५ लाख ७५ हज़ार रुपये से बढ़ कर ६१ लाख ७५ हज़ार रुपये हो गयी और इसके अतिरिक्त स्कूलों की इमारत और उनके साज-सामान की उन्नति करने के लिए २२ लाख ५० हज़ार रुपये की एक मुश्त सहायता दी गयी। सालाना सहायता का काफ़ी बड़ा अंश अध्यापकों को वेतन-वृद्धि में ख़र्च करना पड़ा, क्योंकि महासमर की आर्थिक उथल-पुथल के बाद यह वेतन-वृद्धि परम आवश्यक हो गयी थी। परन्तु स्वर्गीय मिस्टर कैलाशप्रसाद किचलू की रिपोर्ट के अनुसार इस ५ वर्ष में सरकारी सहायता चौगुनी हो जाने पर भी विद्यार्थियों की संख्या में प्रतिशत् २७·७४ ही वृद्धि हुई।

नया शासन-सुधार

इसी समय देश के शासन में नये सुधार उपस्थित होने से शिक्षा-विधान में भी बहुत कुछ परिवर्तन उपस्थित हो गये, और सन् ११२१ में प्रान्त की सारी शिक्षा का भार स्थानीय व्यवस्थापिका सभा के सामने उत्तरदायी मन्त्री को सौंप दिया गया। इस समय हमारे प्रान्त में मिस्टर सी० वाई० चिन्तामणि सबसे पहले शिक्षा-मन्त्री नियुक्त हुए और इस नयी परिस्थिति में स्वभावतः जनता का ध्यान शिक्षा-प्रचार और उसकी सुव्यवस्था की ओर अधिकाधिक आकर्षित हुआ। इसी समय यह भी अनुभव हुआ कि शिक्षा-क्रम में उन्नति करने

के लिए इतनी सब चेष्टाएँ और खर्च करने पर भी गाँव में रहने वाली जनता इन नयी और उन्नत शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं का पूरा-पूरा फ़ायदा नहीं उठाती। यह तो वही मसल हुई कि घोड़े के सामने दाना तो रख दिया गया, परन्तु वह उसे कैसे खाय, यह समस्या बनी ही रही।

इसका एक कारण यह था कि शिक्षा-प्रचार के लिए लोगों की स्वेच्छा पर निर्भर रहने की नीति उपयोगिता और व्यावहारिकता की सीमा पार कर चुकी थी और हमारे देश के विभिन्न प्रान्तों में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर देने के मसविदे स्वीकृत हो गये थे। हमारे प्रान्त में भी सन् १९१९ में म्युनिस्पैलिटी की हद के भीतर जनता की रुचि के अनुकूल शिक्षा-प्रचार अनिवार्य करना निश्चित हुआ। इस समय गवर्नमेन्ट को इस बात की भी जाँच करने के लिए विवश होना पड़ा कि देहातों में भी प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य करने का समय आया है या नहीं। इसी निमित्त सन् १९२४ में श्री कैलाशप्रसाद किचलू के सुपुर्द यह काम किया गया कि वे इस बात को जाँच करके अपनी रिपोर्ट पेश करें कि प्रारम्भिक शिक्षा के ऊपर उस समय जो रुपया सरकार खर्च कर रही थी, उसका अधिक से अधिक सदुपयोग कैसे किया जा सकता था तथा देहातों में किस हद तक और किन शर्तों के अनुसार प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य की जा सकती थी।

श्रीयुत किचलू ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि कुछ शर्तों के साथ हमारे प्रान्त के देहातों में ६ से ११ वर्ष तक के लड़कों के

लिए प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य की जा सकती थी। रिपोर्ट पेश करते समय उनका विचार था कि उनकी इस योजना से केवल प्रारम्भिक स्कूलों में लड़कों की संख्या में वृद्धि होकर, न केवल साक्षरता की समस्या कुछ हद तक हल हो जायगी, बल्कि इसके द्वारा हर लड़के को ५ वर्ष तक के लिए सिलसिलेवार पढ़ाई का अवसर मिल जायगा। इससे वह प्रारम्भिक कक्षाओं को पार कर अपर प्राइमरी कक्षा में पहुँच जायगा और इस प्रकार गाँवों की निरक्षरता की समस्या सहल हो जायगी। उसके बाद इसी विषय पर पुनः रिपोर्ट करने के लिए मिस्टर हैरप की नियुक्ति हुई और इन दोनों रिपोर्टों पर विचार करने के पश्चात् गवर्नमेन्ट ने अनिवार्य शिक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। इसका फल यह हुआ कि १९२६ ई० में हमारे प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा ने 'जिला बोर्ड प्राइमरी शिक्षा-विधान' पास करके बोर्डों को इस बात का अधिकार दे दिया कि वे अपने अधिकार-क्षेत्र में किसी भी जगह प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर सकते है और ऐसी अवस्था में सरकार इस योजना का दो-तिहाई खर्च देने को तैयार होगी।

यह निश्चय हमारे प्रान्त की शिक्षा के इतिहास में एक स्पष्ट सीमा-चिन्ह है, जिसमें प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति इस बात पर निर्भर होगी कि हमारे यहाँ के जिला बोर्डों ने कितनी योग्यता से काम लिया और हमारी गवर्नमेन्ट ने उन योजनाओं की कितने धन से सहायता की।

नवाँ अध्याय

प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति की प्रगति पर कुछ विचार

सन् १८५४ के खरीते में एक जगह पर लिखा है कि इस देश में शिक्षा-प्रचार के लिए जितनी भी चेष्टाएँ ब्रिटिश सरकार ने की हैं, वे चाहे कुछ अंश तक सफल हुई हों, परन्तु यह तो प्रत्यक्ष ही है कि उनके द्वारा विद्या का प्रकाश शिक्षा प्राप्त करने योग्य आयु वाले बहुत ही कम बालकों तक पहुँच पाया है। सन् १८५४ के बाद ही से भारत सरकार ने अपने यहाँ एक शिक्षा-विभाग क़ायम कर रखा है जिसका उद्देश्य इस देश में शिक्षा-प्रचार करना है। पिछले कुछ वर्षों से हमारे देश के नेता भी निरक्षरता के दूर करने में अपना नैतिक सहयोग सरकार को देते रहे हैं, परन्तु यह सब होते हुए भी आज के दिन शिक्षा-प्रचार की क्या अवस्था है, यह सब को विदित है।

अगर हम अपने ही प्रान्त की ओर ध्यान दें तो हमको मालूम होगा कि सन् १९२४ में हमारे यहाँ लगभग १७ हज़ार स्कूल लड़कों के पढ़ने के लिए मौजूद थे। इससे प्रकट है कि हमारे यहाँ हर ७ वर्गमील के क्षेत्र के लिए एक स्कूल मौजूद है। हमारे प्रान्त में पुरुषों की संख्या २ करोड़ ४५ हज़ार है और अगर

इसकी १५ प्रतिशत संख्या उन बालकों की मान ली जाय, जो स्कूल में पढ़ने योग्य आयु के हों, तो हमारे यहाँ के विद्यार्थियों की संख्या ४० लाख होती है। परन्तु हमारे प्रान्त के हर प्रकार के देसी स्कूलों में लगभग १० लाख लड़के पढ़ते हैं अर्थात् ३० लाख लड़के बिना किसी प्रकार की शिक्षा पाये रह जाते हैं।

हम समझते हैं कि हमें यह बताने की अधिक आवश्यकता नहीं है कि हमारे यहाँ ४ लड़कों में से केवल १ ही लड़का पढ़ने के लिए स्कूल में पहुँचता है और वह १ लड़का अवश्य ही किसी उच्च जाति का होता है। १९२२ ई० में हमारे प्रारम्भिक स्कूलों में ७,५४,५७३ विद्यार्थी थे, जिनमें १,९१,६०५ या लगभग एक चौथाई ब्राह्मण थे। अगर हमको प्रारम्भिक स्कूलों के विद्यार्थियों के जातिवार आँकड़े मिल सकें तो हम यह बहुत आसानी से ही बतला सकते हैं कि बाक़ी के हिन्दू लड़के कायस्थ, बनिये और खत्री जाति (शिक्षित जातियों) के ही होंगे। मुसलमान लड़कों की संख्या १,२०,६४० अर्थात लगभग १७ प्रतिशत थी और इनमें से भी अधिकांश संख्या उच्च श्रेणी की होनी चाहिए। इस प्रकार इन आँकड़ों से यह प्रत्यक्ष है कि हमारे यहाँ शिक्षा अभी जन-साधारण में नहीं पहुँच पायी है और अभी तक हमारे यहाँ की शिक्षित जातियाँ ही इसका अधिकांश लाभ उठा रही हैं।

हमारे यहाँ शिक्षा की उन्नति के लिए समय-समय पर जो प्रशंसनीय चेष्टाएँ होती रही हैं, उनके परिणाम प्राय: असन्तोष-जनक ही रहे हैं। इस परिस्थिति के अनेक कारण बतलाये जाते

हैं। ऐसा एक कारण यह है कि हमारे यहाँ शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ बहुत कम हैं। इसलिए सरकार ने बराबर नये स्कूल खोलने की चेष्टा की, मगर फिर भी हमारे यहाँ की जनता ने इनसे लाभ नहीं उठाया। दूसरे, कुछ लोगों को शिकायत थी कि इन स्कूलों का पाठ्यक्रम अनुपयुक्त था; वह देहात में रहने वाले लड़कों के नित्य-प्रति के जीवन के वातावरण से कोई मेल न खाता था और उसमें किताबों पर बहुत अधिक ज़ोर दिया जाता था। इस कमी को दूर करने के लिए बालकों को प्रकृति-पाठ, कृषि, सफ़ाई तथा पटवारी के कागज़ात आदि विषय पढ़ाने की सुविधा की गयी। यद्यपि यह सबको मान्य है कि भारतवर्ष में विद्या का बड़ा आदर-सम्मान है, फिर भी हमारे यहाँ के जन-साधारण ने इस शिक्षामृत का पान नहीं किया। तीसरे, सरकार ने शिक्षा पर जो कुछ भी ख़र्च किया था, उसके अनुपात में विद्यार्थियों की संख्या कभी न बढ़ी, जिससे यह प्रकट हो गया कि प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वेच्छा से जितने लोगों की माँग हो सकती है, उसकी पूर्त्ति हो चुकी। पिछले शासन-सुधार के समय वोटाधिकार बढ़ जाने से गवर्नमेन्ट और नेताओं को यह आशा होने लगी थी कि इसके कारण जनता में शिक्षा की माँग ज़ोर पकड़ेगी; परन्तु यह आशा भी निरी दुराशा ही रही।

तब फिर हमें सोचना है कि इस सब परिस्थिति का क्या कारण हो सकता है? इसका कारण समझने के लिए यह

आवश्यक है कि हम इस नयी शिक्षा के प्रति (जिसका एक अंश प्रारम्भिक शिक्षा है) लोगों की भावनाओं की जाँच करें और जन-साधारण के शिक्षा के आदर्श से इस नये शिक्षा-विधान के उद्देश्य की तुलना करें।

यह तो स्पष्ट ही है कि नवीन शिक्षा पाश्चात्य रँग में रँगी हुई है। इसका एकमात्र उद्देश्य नागरिक बनाना है। इस देश में, जहाँ राष्ट्रीय जागृति के इन दिनों में भी जनता धार्मिक भावों से प्रेरित हो जाती है, इस शिक्षा का रुझान धार्मिकता से लौकिकता की ओर कर दिया गया है। नवीन शैली के इन स्कूलों में चटाई छोड़ कर मेज़-कुर्सियों पर बैठने तक का ही परिवर्तन न हुआ था, वरन् देसी शिष्टाचार का स्थान अब पाश्चात्य 'गुडमार्निङ्ग' ने ले लिया है। जात-पाँत की रूढ़ियों में बँधे हुए इस देश में, यह शिक्षा-विधान केवल अपने सिद्धान्तों से ही सब भेद-भाव दूर करने वाला न था, बल्कि अपने प्रभाव से ज़बरदस्ती सबको एक घाट उतारने वाला है। इसलिए उन वर्गों ने, जिनका सर्वस्व समाज-प्रतिष्ठा और कुल-गौरव पर ही निर्भर था, इस विधान में अपनी चिर-संचित सम्पत्ति को नष्ट होते देखा। फिर जिन लोगों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला था, उनका न केवल बाह्यांग पश्चिमी हो गया था, वरन् उन्होंने अपने देश के रीति-रिवाजों की ओर भी बड़े कड़े आलोचक का भाव ग्रहण कर लिया। परिणाम-स्वरूप अँग-रेज़ी शिक्षा की इस नयी रोशनी से प्रभावित हुए लोग अपने

पुराने रीति-रिवाजों से बौद्धिक क्षेत्र में तो बिल्कुल अलग हो गये हैं और इस अवस्था को पहुँच कर वे अपने समाज का रीतियों और परम्पराओं के कट्टर विरोधी बनते जाते हैं। परन्तु उनका दुर्भाग्य यह है कि वे पाश्चात्य रीतियों को भी बिल्कुल न अपना सके हैं। इस प्रकार हमारे यहाँ के अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त मनुष्यों का दृष्टिकोण बिलकुल वैयक्तिक हो गया और वे उन लोगों के लिए, जो हमारे देश की संयुक्त परिवार-प्रथा के अनन्य उपासक हैं, बिलकुल दुरूह और भयावह बन गये हैं।

इस प्रकार बहुत शीघ्र ही यह प्रकट हो गया कि यह झगड़ा सांस्कृतिक है। इस नयी शिक्षा के विरोध में हमारी भाषा में बहुत से व्यङ्गात्मक वाक्य प्रचलित हो गये। यहाँ तक कि ऐसी किम्वदन्तियाँ भी बन गयीं, जिनका आशय है कि अँगरेज़ी पढ़ी और आदमियत गयी। पिछली शताब्दी के अन्तिम अंश में ही नहीं, बल्कि अब तक भी हमारे यहाँ के जन-समुदाय की दृष्टि में, अपनी विद्या की ज्योति के सामने यह नयी शिक्षा जुगनू की चमक से अधिक नहीं जँचती है। इसी आशय का किसी उर्दू शायर का एक शेर है :—

यह जुगनू भी नयी ही रोशनी से मिलते जुलते हैं,
अँधेरा ही रहा जंगल में गो यह जा बजा चमके।

इस प्रकार हमारे समाज का दृष्टिकोण अपने संरक्षण की ओर हो गया और उसने इस नयी शिक्षा को राज्य-विद्या या अर्थकरी विद्या घोषित कर दिया। क्योंकि लोगों को

यह अनुभव होने लगा कि इस शिक्षा की मोहकता की रोक-थाम के लिए सबसे आवश्यक बात यह थी कि अँगरेज़ी शिक्षा से दूर ही रहा जाय। इसलिए इनके विचार में इस पाश्चात्य सभ्यता के आक्रमण से बचने के लिए पुरानी चाल-ढाल पर चलना ही सबसे ज़बरदस्त कवच था। उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर ने इसी बात पर अपनी चमत्कारपूर्ण भाषा में कैसा अच्छा व्यंग किया है—

मग़रबी धौल का सिर में न पहुँचता था असर,
एक यह बात बहुत .खूब थी अम्मामे में।

इसका अर्थ यह होता है कि (शेख़जी) 'सिर पर साफ़ा इसलिए बाँधते थे कि उसके कारण पश्चिम के आघात (प्रभाव) का उन पर कोई असर न होता था।'

इस नयी शिक्षा द्वारा दीक्षित हुए लोग पाश्चात्य संस्कृति की लपेट में सहज ही आ सकते हैं और अधिकांश लोगों का विचार यह हो गया था कि पश्चिमी शिक्षा हमारे शिक्षा-विधान से श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि उसका सारा दृष्टिकोण लोकोपयोगी है।

इसी बात को अकबर की नीचे लिखी शेरों में बड़ी कुशलता से व्यक्त किया गया है :—

मशरक़ी को है मेल रूहानी,
मग़रबी को है मेल जिस्मानी,
कहा मंसूर ने '.खुदा हूँ मैं'।
डार्विन बोला, 'बूज़ना हूँ मैं;'

हँस के कहने लगे मेरे एक दोस्त,
फ़िक्र हर कस बक़द्र हिम्मते ओस्त।

"पूर्व आध्यात्मिकता और पश्चिम लोकोपयोगिता में रँगा हुआ है। मंसूर (ईरान का एक पहुँचा हुआ फ़क़ीर) कहता था मैं ब्रह्म हूँ, लेकिन डार्विन (पश्चिम के विकास सिद्धान्त के प्रवर्तक) का दावा था कि मनुष्य वानर की सन्तान है। मेरे मित्र जो मेरे पास बैठे यह सब सुन रहे थे, हँस के कहने लगे, 'हर आदमी के विचार अपनी-अपनी विवेक शक्ति के अनुसार ही होते हैं अर्थात् हर आदमी अपने विवेक के अनुसार ही विचार कर सकता है'।"

इस प्रकार इस नवीन शिक्षा के रंग में जो लोग रँगे हुए थे, उनके अतिरिक्त अन्य सभी लोगों की यह भावना ही नहीं, वरन् उनका पक्का विश्वास था कि नवीन शिक्षा से हमें बहुत ही कम लाभ होने की सम्भावना है। लेकिन जिन्हें अपने निर्वाह के लिए किसी न किसी रूप में सरकारी नौकरी करनी थी, वे इस शिक्षा से अपने को वञ्चित रख ही कैसे सकते थे ? एक बार एक सदर अमीन साहब ने इस सम्बन्ध में साफ़-साफ़ शब्दों में राजा शिवप्रसादजी से कहा था कि 'लोग या तो दीन के लिए मेहनत करते हैं या दुनियाँ के लिए। दीन के लिए तो हमारे यहाँ काफ़ी किताबें हैं। रही दुनिया, सो उसके लिए उर्दू में मार्शमेन साहब की लिखी ज़ाब्ता दीवानी काफ़ी है। बस इसको पढ़ लीजिये और सदर अमीनी के आप पूरे मुस्तहक़

हो गये। फिर आगे पढ़ कर किरानी या ईसाई बन कर क्या करना है?'

आज भी हज़ारों-हिन्दू और मुस्लिम, जिनके हृदय में कोई सांसारिक आकांक्षा नहीं है, अपना सारा जीवन निष्फल और बेमतलब की पुरानी असामयिक शिक्षा-प्राप्ति में ही व्यतीत कर देते हैं और इसके लिए अनेक प्रकार के कष्ट भी सहते हैं। बनारस की संस्कृत पाठशालाओं में जा कर देखने से हमारे इस कथन की पुष्टि हो जाती है। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि भारतवर्ष में कोई परिवर्तन ही नहीं हुआ। संसार की शक्तियों और अन्य कारणों ने—जिनकी विवेचना यहाँ अपेक्षित नहीं है—हमारे विचार-क्षेत्र के गुरुत्व केन्द्र को धर्मक्षेत्र से हटा कर राजनीतिक क्षेत्र में पहुँचा दिया है। क्योंकि पहले जो शिक्षा धर्मिष्टों द्वारा धर्महीन बतायी जा कर हेय समझी जाती थी, वही अब राजनीति-विशारद भारतीयों की दृष्टि में भी शङ्कास्पद दृष्टि से देखी जाने लगी है। फिर असहयोगियों ने तो इसके विरोध में अपने विचार खुल्लमखुल्ला प्रकट कर दिये हैं।

यद्यपि इस शिक्षा के अभाव में उनके पास न तो इससे अधिक उन्नत और न कोई दूसरा ही शिक्षा-विधान मौजूद है, फिर भी वे इस अंगरेज़ी शिक्षा के प्रचलित स्वरूप का विरोध करते ही रहे हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह शिक्षा-शैली राष्ट्रीयता की विरोधिनी है। उन्होंने इस बात पर तनिक भी विचार नहीं

किया कि इसके स्थान पर आने वाली शिक्षा का क्या स्वरूप होगा और न इसको उन्हें तनिक भी पर्वाह ही रही है। लेकिन उनको तो इसी बात की लगन लगी हुई है कि जैसे हो वैसे इस शिक्षा-क्रम का स्वरूप नष्ट-भ्रष्ट हो जाय।

इस प्रकार यह तो सबको मानना पड़ेगा कि इस नयी शिक्षा-प्रणाली को बड़ी से बड़ी अड़चनों का सामना करना पड़ा है। स्कूल या कालेज से बाहर निकलते ही विद्यार्थियों को कभी धार्मिक तथा कभी राजनीतिक नेताओं के मुख से अनेक आक्षेप सुनने पड़ते हैं। अकेली मानसिक शिक्षा के सहारे हमारे विद्यार्थी विज्ञान, साहित्य, इतिहास या दर्शन विषयों में पारङ्गत अवश्य हो जाते हैं, लेकिन उनके चारों ओर का वातावरण इतना अनिश्चित होता है कि उनको इन पढ़ी हुई बातों पर नैतिक विश्वास नहीं होता। विज्ञान या दर्शन शास्त्र पढ़ने वाले विद्यार्थी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में यह कहते सुने जाते हैं कि पश्चिमी विद्वान अभी इसी हद तक पहुँच पाये हैं, परन्तु हमारे पूर्वज इन शास्त्रों में भी इनसे कहीं आगे थे। अगर स्कूल या कॉलेज के लड़कों में इस धारणा की कमी हुई, तो इनके बाहर तो यह धारणा स्पष्टतया मौजूद है। फिर हमारे उत्साही आर्यसमाजी मित्रों को वेदों में अनेकों मशीनों और यहाँ तक कि हवाई जहाजों का भी वर्णन प्राप्त हो जाता है और वे प्राचीन आर्य-सभ्यता और उसका गौरव-गान करते-करते नहीं अघाते। दूसरे लोग पश्चिम के ऐहलौकिक गौरव की तुलना पूर्व की दार्शनिक और नैतिक उन्नति से करते हैं।

इतिहास ने भी इस नयी शिक्षा के प्रति विरोधी भाव उत्पन्न किये हैं। स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली इतिहास की पुस्तकों में भी, राजाओं की वंशावली और भारतवासियों की निर्बलता और उनकी पराजय की गणना के सिवाय और कुछ नहीं होता, इसलिए इनसे भी बड़ी जबर्दस्त प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई है। उर्दू के प्रसिद्ध कवि मौलाना शिबली नौमानी ने बड़े असन्तोष के साथ लिखा है :—

हमें ले देके सारी दास्ताँ में याद है इतना,
कि आलमगीर हिन्दू-कुश था, जालिम था, सितमगर था।

'अपने इतिहास के विषय में हमें केवल एक यही बात याद है कि औरङ्गजेब (जिसको मुसलमान आदर्श शासक मानते हैं) (केवल) हिन्दुओं को सताने वाला, क्रूर और निर्दयी था।'

इस प्रकार हमारे देश-वासी अपने पिछले इतिहास का ठीक-ठीक ज्ञान न होने के कारण, अपने प्राचीन गौरव के सुख-स्वप्न देख कर ही इस कमी को पूरा कर लेते हैं। उनका वर्तमान इतिहास लज्जाजनक और दुःखपूर्ण है, इसलिए विद्यार्थियों के ऊपर इसका नैतिक प्रभाव बहुत बुरा पड़ता है, क्योंकि पाठशाला में उसे जो बातें बतलायी जाती हैं, बाहर उसे उनके खिलाफ़ सुनने को मिलता है। इन लोगों के विचार में स्कूलों के अध्यापकों का भी कोई विश्वास नहीं हो सकता, क्योंकि वे सरकारी वेतन-भोगी हैं। स्कूलों में वे जो बातें पढ़ते हैं, वे तो केवल परीक्षा देने के ही निमित्त होती हैं, क्योंकि उनके दिल में इस बात का ख़याल रहता है कि ये बहुत-कुछ मिथ्या हैं।

इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारे विद्यार्थियों के विचार बहुत बातों में दुरङ्गे हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें कुछ ऐसी बातें याद करनी और कहनी पड़ती हैं जिनको वे सत्य नहीं मानते, और जिनसे वे बिलकुल घृणा करते हैं। इस प्रकार हमारे विद्यार्थियों का स्वभाव हो गया है कि वे कहें कुछ और करें कुछ और। ऐसी परिस्थिति का परिणाम उनके चरित्र पर अवश्यम्भावी बुरा होना चाहिए। इन विद्यार्थियों को न तो इस बात का विश्वास है कि यह नयी शिक्षा उपयोगी है, और न उन्हें लोगों से इसकी प्रशंसा ही सुनने में आती है।

इस परिस्थिति का कारण है हमारे यहाँ की शिक्षा की अव्यावहारिकता। इसके द्वारा विद्यार्थियों के मानसिक संस्कारों में अवश्य उन्नति हो जाती है, परन्तु न तो उनके हृदय में उदारता ही आती है, न हाथों का कौशल। इस प्रकार इस नयी शिक्षा द्वारा मनुष्य सुसंस्कृत तो हो जाते हैं, परन्तु सुडौल नहीं हो पाते; क्योंकि इस शिक्षा में धर्म, ललित-कलाएँ, गान, और शारीरिक व्यायाम आदि विषयों की शिक्षा पर, जिनसे मनुष्य वास्तव में सुसंस्कृत हो सकता है, कोई ध्यान नहीं दिया जाता।

कहा जाता है कि अङ्गरेजी काव्य का लोगों पर बड़ा कल्याणकारी प्रभाव पड़ा है, परन्तु ऐसे मनुष्य जिनका जीवन इस अमृतमयी काव्यधारा से परिष्कृत हो पाया हो, कितने अल्प हैं? हमारे देश में कितने अङ्गरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के ज्ञान-चक्षुओं को ऐसी दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो पाती है, जो अङ्गरेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ

की भाँति सरोवर के फूलों में प्रकृति की रहस्यपूर्ण आत्मा को देख सकें, तथा कितने लोगों की आत्मा में इतनी सात्विकता आ जाती है कि वे युरोप के सुधारकों के ओज और उनकी तत्परता का आभास भी अपने हृदय में प्राप्त कर सकें ?

अधिकांश हिन्दुस्तानी विद्यार्थी शेक्सपियर के काव्य का आनन्द लेने की अपेक्षा, एक तरह से उसकी आत्मा को व्यवच्छेद कर उसके वाक्यों के विश्लेषण और उसकी शैली की आलोचना में ही लगे रहते हैं। फिर हमारे यहाँ पुस्तकों की कुञ्जियाँ तथा अन्य सहायक पुस्तकों के व्यापक दुरुपयोग से इस कुप्रथा का पूरा-पूरा पता चलता है। हमारे यहाँ के स्कूलों के अध्यापक इस बात का पूरी तरह से अनुभव नहीं करते कि उनके विद्यार्थियों को भाव-प्रकाशन और क्रियात्मक रचनाओं के लिए इस पढ़ाई में कितने सुअवसर प्राप्त होते हैं ? और यही दो ऐसी बातें हैं जिनके बग़ैर उनका जीवन कभी सम्पन्न नहीं हो सकता। हमारी इस शिक्षा-प्रणाली में हमारे हाथों के सधाने और हृदयावेश पर नियन्त्रण करने का कोई प्रबन्ध न होने के कारण केवल हमारी बुद्धि का ही विकास होने से हमारी उन्नति एकाङ्गी हो जाती है। इन स्कूलों में शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों की बुद्धि अवश्य ही विकसित हो जाती है, परन्तु उनमें व्यावहारिकता बिलकुल नहीं आती।

इस शिक्षा के यह सब दोष जानते हुए भी, इसके आर्थिक मूल्य के कारण लोग फिर भी इन स्कूलों में पहुँचते हैं, क्योंकि उनको मालूम है कि ऐसे किसी आदमी को जो किसी प्रकार

की परीक्षा पास न हो, १०) मासिक की भी सरकारी नौकरी मिलनी असम्भव है। इस प्रकार साधारण जनता की निगाह में तो पढ़ने-लिखने का केवल इतना ही मूल्य रह गया है कि उसके द्वारा सरकारी नौकरी प्राप्त हो सकती है, परन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जाता है, यह सरकारी नौकरी मिलना भी कठिन होता जाता है। पहले तो मिडिल पास होने का सार्टिफिकेट सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए उपयुक्त साधन समझा जाता था, परन्तु बाद में एन्ट्रेंस पास लोगों की संख्या में असाधारण वृद्धि हो जाने के कारण उसका भी मूल्य जाता रहा और लोगों में यह मसल मशहूर हो गयी :—

इडिल मिडिल की छोड़ो आस,
लेके खुर्पा खोदो घास।

अब तो यह परिस्थिति इतनी चिन्ताजनक हो गयी है कि एम० ए० पास नवयुवकों को भी नौकरी मिलने में बड़ी कठिनाई होती है। इसी कठिनाई को व्यक्त करने के लिए थोड़े ही दिन हुए एक उपन्यास प्रकाशित हुआ था, जिसके नाम से ही 'एम० ए० पढ़ा के क्यों मेरी मट्टी खराब की', उसका आशय प्रकट है।

इस नये शिक्षा-क्रम के विरोध में जन-साधारण की एक और शिकायत यह भी थी कि इसके कारण हमारे युवकों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इस किताब में हम इसके कारणों की कोई विशेष विवेचना करने को तैयार नहीं हैं, परन्तु यह उल्लेख किये बगैर नहीं रह सकते कि यह शिकायत यथार्थ है। सन् १८९२

की शिक्षा रिपोर्ट में गाँव के इन स्कूलों के सम्बन्ध में लिखा हुआ है कि जो लड़के अपर-प्राइमरी परीक्षा में बैठने के लिए इन स्कूलों में प्रायः १३ से १५ वर्ष की आयु तक रह जाते हैं, वे खेती-बारी के काम से जी ही नहीं चुराने लगते, बल्कि उसके अयोग्य भी हो जाते हैं। फिर इनमें १०० पीछे एक लड़के को भी ऐसी नौकरी नहीं मिलती, जिसमें वह अपना अध्ययन जारी रख सके। इसलिए बहुत से तो घर पर ही निठल्ले बैठे रहते हैं और उनके इस निकम्मेपने के कारण उनके अभिभावकों को इस बात की शिकायत करने का अवसर मिलता है कि उन्होंने उन्हें पढ़ने के लिए भेजने में बड़ी भारी भूल की।

पढ़े-लिखे लोगों की इस अकर्मण्य परिस्थिति का, प्रोफ़ेसर रामावतार पाँडेय ने थोड़े से ही शब्दों में इस प्रकार दिग्दर्शन कराया है—'हमारे देश में क्लर्की प्राप्त करने के लिए उपयुक्त शिक्षा की कोई कमी नहीं है और इस शिक्षा के ग्रहण करने के लिए हमारे देश में लोगों को प्रायः ४-५ हज़ार रुपये खर्च करने पड़ते हैं। इसके उपलक्ष में विद्यार्थियों को अपने स्वास्थ्य का ही परित्याग नहीं करना पड़ता, बल्कि अपने जीवन के २०-२५ वर्ष भी व्यतीत कर देने पड़ते हैं।'

इस प्रकार संक्षेप में हमारे यहाँ की जनता के इस आधुनिक शिक्षा-क्रम के सम्बन्ध में यही विचार हैं और चूँकि प्रारम्भिक शिक्षा इसका एक अंश-मात्र है, इसलिए उसे भी इसके गुण-दोष का भागी होना पड़ता है। अगर हमारे यहाँ की मध्यम श्रेणी के

लोग, जिनका खान-पान, जिनकी स्थिति और जिनकी मान-मर्यादा का सारा दारमदार इन नौकरियों पर है, विना किसी उत्साह और विश्वास के, इस शिक्षा के आर्थिक मूल्य का विचार न करते हुए भी, उसके हानिकारक परिणामों को अवश्यम्भावी मानने को तैयार हैं, तो हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि हमारे गाँवों की जनता, जो इन नौकरियों के वगैर भी जीवन-यापन कर सकती है, क्यों अपने समय और अपने स्वास्थ्य को खोकर इनके पीछे दौड़ने को उत्सुक रहती ?

हम इस पुस्तक के आरम्भ में ही यह वतला चुके हैं कि आज-कल के जमाने में भी—किसानों के पढ़े-लिखे होने पर भी—उनके व्यवसाय में कोई विशेष लाभ नहीं होता। हमारे यहाँ के ग्रामीण-जीवन में तो कोई ऐसी बात ही नहीं है, जिसके लिए साक्षरता की आवश्यकता हो, क्योंकि हमारे देश में तो गाँव वालों के उपयुक्त साहित्य हो का निर्माण नहीं हुआ है और न उनके लिए पत्र-पत्रिकाएँ ही प्रकाशित होती हैं। केवल पढ़े-लिखे होने से ही कोई किसान ज़मींदार के ज़ुल्म और पटवारी की चालाकियों से नहीं वच सकता; क्योंकि आजकल भी हमारे यहाँ के किसान इनसे पाला पड़ने पर अपने आपको अपने भाग्य पर ही छोड़ देते हैं। परन्तु यह परिस्थिति होते हुए भी हमारे यहाँ की ग्रामीण जनता शिक्षा की विरोधी नहीं है और वे अपने वालकों को शिक्षा के लिए इसलिए भेज देते हैं कि या तो उनके पड़ोसी लड़के पढ़ने जाते हैं या इसलिए कि वे स्कूल में जाकर काम में लगे रहते हैं; या

इसलिए कि कुछ दिनों बाद जब वे पढ़-लिख लेंगे तो अपने माता-पिताओं को कम से कम रामायण तो पढ़ कर सुना ही देगें।

परन्तु हमारे यहाँ की ग्रामीण जनता बहुत ग़रीब है और जैसे ही उनके बालक खेत में काम करने लायक़ या कुछ कमाने योग्य हो जाते हैं, वे उन्हें स्कूल से उठा लेने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इन लोगों का शिक्षा में इतना दृढ़ विश्वास नहीं है कि वे इसके कारण त्याग करने के लिए तैयार हों। फिर हमारे इस शिक्षा-क्रम में कोई धार्मिकता भी नहीं है और सबसे ऊपर, हमारे यहाँ के किसान इतने व्यावहारिक तो अवश्य हैं कि वे वोट और जनसत्ताधिकार के लोभ में नही आ सकते ! क्योंकि उनको यह बात भलो-भाँति मालूम है कि हमारे देश में १०० पीछे ६-७ आदमी ही पढ़े-लिखे हैं और १०० पीछे १०-१२ आदमियों को ही वोट देने का अधिकार मिला हुआ है।

इस प्रकार संक्षेप में हमारे देश में स्वेच्छा से जन-साधारण की शिक्षा में कोई उन्नति इसलिए नहीं हुई है कि पहले तो हमारे देश में, न तो सरकार ने इतना रुपया ही खर्च किया है और न इसके लिए उपयुक्त सुविधाएं ही उपस्थित की हैं। फिर इसका एक कारण यह भी है कि हमारे यहाँ की जनता को इस प्रकार की निरी किताबी शिक्षा के लिए कोई बहुत उत्साह भी नहीं है और हमारे गाँवों की सामाजिक और आर्थिक परिस्थिति में जन-साधारण ऐसी शिक्षा को अवश्य ही अनावश्यक और अनुपयोगी समझते हैं।

पहला परिशिष्ट

लड़कियों की शिक्षा

हमारे यहाँ के देहातों में स्त्री-शिक्षा का प्रायः अभाव सा ही है। हमारे प्रान्त में सन् १९३५ तक देहाती और क़स्बाती तथा लड़कों और लड़कियों के हर प्रकार के स्कूलों में मिला कर केवल १·६ लाख ही लड़कियाँ शिक्षा पा रही थीं। हमारे यहाँ की शिक्षा रिपोर्ट से अभी देहाती और क़स्बाती स्कूलों में पढ़ने वाली लड़कियों के अलग-अलग आँकड़े नहीं मिलते, परन्तु यह जानते हुए कि शहरों और क़स्बों के म्युनिस्पल बोर्डों के लड़कियों के स्कूल अवश्य हैं, देहातों में शिक्षा पाने वाली लड़कियों की संख्या बहुत कम रह जाती है।

स्त्री-शिक्षा की महत्ता तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों ने पहले ही स्वीकार कर ली थी, क्योंकि १८५४ ई० के ख़रीते में इस सम्बन्ध में लिखा है कि इस देश में स्त्री-शिक्षा की महत्ता पर जितना ही ध्यान दिया जाय, वह थोड़ा है। डाइरेक्टरों ने बङ्गाल गवर्नमेन्ट को गवर्नर जनरल द्वारा, अपनी अनुमति प्रकट करते हुए लिखा था, कि भारतवर्ष में स्त्री-शिक्षा-प्रचार के लिए गवर्नमेन्ट को हमारी पूरी सहायता मिलेगी। इसके परिणाम स्वरूप हमारे प्रान्त में भी लड़कियों के स्कूल खोलने की व्यवस्था

शुरू हुई और १८५५ ई० में पं० गोपालसिंह डिप्टी इन्स्पेक्टर ने शहर आगरा और आस-पास के गाँवों में लड़कियों की शिक्षा के लिए स्कूल स्थापित करने शुरू किये। १८५९ ई० के खरीते में लिखा है कि हमारे प्रान्त के कृषक-वर्ग इन स्कूलों में अपनी लड़कियों को पढ़ने के लिए भेजने को तो बिल्कुल तैयार थे, परन्तु इससे अधिक वे कुछ नहीं कर सकते थे, क्योंकि अध्यापिकाओं का वेतन देने के लिए उनके पास धन नहीं था।

पहले पहल इन लड़कियों के स्कूलों में पढ़ाने के लिए अध्यापकों को उनके अभिभावक ही चुन लेते थे और ऐसे स्कूलों का प्रबन्ध करने के लिए स्थानीय रईसों की कमिटियाँ भी बना दी गयी थीं। जनवरी १८५७ ई० में हमारे सूबे में लड़कियों के २८८ स्कूल खुल चुके थे और उनमें ४,९२७ लड़कियाँ शिक्षा पा रही थीं। कुछ दिनों में यह प्रगति मथुरा और मैनपुरी तक फैल गयी; परन्तु ग़दर के ज़माने में ये सब स्कूल बिलकुल ग़ायब हो गये और फिर ग़दर के बाद इनके पुनर्स्थापित होने में इतना अधिक समय लगा कि सन् १८६३ में ३ क्षेत्रों में केवल १४४ स्कूल थे जिनमें २,२६५ लड़कियाँ शिक्षा पाती थीं।

इसके बाद से स्त्री-शिक्षा की उन्नति तो अवश्य हुई, परन्तु उसकी गति बहुत ही मन्द रही। फिर इन स्कूलों में शिक्षा पाने वाली लड़कियों में १०० पीछे प्रायः ९७ (१९१७ ई० में ९७.६ और १९२२ ई० में ९७.३) लोअर प्राइमरी शिक्षा से आगे ही न बढ़ पाती थीं। स्त्री-शिक्षा की ये निर्बलताएँ शुरू से ही

मौजूद थीं। १८७० ई० में ही ३ मुख्य क्षेत्रों में पढ़ने वाली ६,९५३ लड़कियों में से ६,५६० सबसे नीची कक्षाओं में पढ़ रही थीं, अर्थात् उनकी शिक्षा कुछ भी नहीं थी।

इस प्रकार स्त्री-शिक्षा की भी हमारे देश में वही समस्या है, जो लड़कों को शिक्षा के सम्बन्ध में बतलायी जा चुकी है। वास्तव में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को शिक्षा की तो और भी अधिक अधोगति है। इसलिए हमारे देश में शिक्षा-प्रसार के लिए सबसे पहला काम तो यही करना है कि लड़के-लड़कियों को स्कूल में लाया जाय और जब वे उनमें पढ़ने लगें, तो दूसरी समस्या यह हो जाती है कि उन्हें साधारण लिखना-पढ़ना और हिसाब सिखाने के लिए जितने समय की आवश्यकता हो, उस समय तक स्कूलों में रखा जा सके। हमारी गवर्नमेन्ट समय-समय पर स्त्री-शिक्षा-प्रसार के लिए काफ़ी उदारता से सहायता देती रही है, और हमारे यहाँ की वार्षिक शिक्षा-रिपोर्टों में स्त्री-शिक्षा-प्रसार की उन्नति तो अवश्य बहुत मन्द बतलायी गयी है, परन्तु निकट भविष्य में उसका कोई उज्ज्वल परिणाम होने की सम्भावना नहीं मालूम होती।

आख़िरकार सन् १९०५ ई० में हमारी गवर्नमेन्ट ने इस बात का अनुभव किया कि उसके लिए स्त्री-शिक्षा-प्रसार में अग्रसर होना आवश्यक है और उसमें सन्तोषप्रद उन्नति प्राप्त करने के लिए यह ज़रूरी था कि भारतीय जनता का सहयोग और उनकी सहानुभूति भी प्राप्त की जाय। इसका परिणाम यह हुआ

कि सरकारी और ग़ैर-सरकारी सज्जनों की एक कमिटी बनायी गयी जिसका यह काम था कि वह गवर्नमेन्ट को इस बात की सलाह दे कि स्त्री-शिक्षा-प्रचार के लिए सबसे अधिक उपयोगी और आवश्यक साधन क्या हो सकते हैं।

इस कमिटी ने स्त्री-शिक्षा के विरोध में लोगों की निर्मूल भावना और परदे की कुप्रथा द्वारा इसकी उन्नति में अड़चनें पड़ने की परिस्थिति को भली भाँति समझ लिया था। इसलिए उन्होंने इस बात की आवश्यकता पर बड़ा ज़ोर दिया कि जनाने के भीतर जाकर कुछ स्त्रियों के पढ़ाने की व्यवस्था की जाय। परन्तु यह सब शहरों ही में हो सकता था। वास्तव में स्त्री-शिक्षा की उन्नति जभी हो सकती है जब उनके पढ़ाने के लिए अधिकाधिक स्कूल खोले जायँ। इसलिए उन्होंने स्त्री-शिक्षा देने वाली ग़ैरसरकारी संस्थाओं की सहायता के लिए बड़ी उदारता से प्रबन्ध करने की सिफ़ारिश की।

बहुत से देहातों में तो अध्यापिकाएँ मिलने की कठिनाई से मजबूर होकर बहुत सी लड़कियाँ लड़कों के स्कूल में शिक्षा पाती थीं और यह सिलसिला अब तक जारी है। १९२६—२७ ई० में ३९,२०० लड़कियाँ अर्थात् १०० पीछे ३१.५ लड़कियाँ देहात के लड़कों के स्कूलों में शिक्षा पा रही थीं। इन कमिटियों ने इस बात का अनुभव किया कि हमारे यहाँ की जनता इस प्रबन्ध से सन्तुष्ट नहीं है और इसलिए जहाँ लड़कियों की शिक्षा के लिए विशेष सुविधा नहीं हो सकती थी, वहाँ उन्होंने ८ वर्ष

तक की आयु की लड़कियों के लिए लड़कों के ही स्कूल में पढ़ने की सिफ़ारिश की।

गवर्नमेन्ट ने इस कमिटी की सिफ़ारिशों को स्वीकार तो कर लिया, परन्तु चूँकि देहातों में लड़कियों के स्कूलों की देख-रेख के लिए इन्स्पेक्ट्रेस (निरीक्षिकाएँ) भेजने में बड़ी अड़चनें होती थीं, इसलिए डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को यह अधिकार दे दिया कि वे अध्यापिकाओं का प्रबन्ध हो जाने पर या तो नये स्कूल खोल दें या लड़के-लड़कियों के एक साथ पढ़ने की सुविधा कर दें। चुनांचे डिस्ट्रिक्ट बोर्डों ने इन दोनों ही साधनों का उपयोग किया।

जन-साधारण का सहयोग प्राप्त करने के विचार से गवर्नमेन्ट ने १९०५ ई० में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैनों को लड़कियों के स्कूलों की प्रबन्धकारिणी समितियों का प्रधान बना दिया; परन्तु सन् १९११—१२ की सालाना शिक्षा-रिपोर्ट से विदित होता है कि अधिकांश कमिटियों ने कोई काम नहीं किया। जन-साधारण को स्त्री-शिक्षा-प्रचार में कोई विशेष लगाव नहीं था, और इसलिए इस चेष्टा का कोई दूसरा परिणाम भी नहीं हो सकता था।

१९१३ ई० में स्त्री-शिक्षा-प्रचार के लिए पुनः उद्योग करने के विचार से प्राइमरी-शिक्षा कमिटी की एक उप-समिति बनायी गयी; जिसने लड़कियों के शिक्षा-क्रम में कुछ परिवर्तन करने की सिफ़ारिशें की। इनकी सिफ़ारिश यह थी कि लड़कियों की पढ़ाई

में हिसाब की पढ़ाई हलकी कर दी जाय और अध्यापिकाओं की ट्रेनिङ्ग के लिए विधवाओं को छात्र-वृत्ति देकर पढ़ाने का प्रबन्ध किया जाय। परन्तु हमारे देश में विधवाओं की सामाजिक परिस्थिति और परदे के कारण यह सिफ़ारिश मंजूर न हो सकी।

सन् १९२१ में जब नयी सुधार-योजना का श्रीगणेश हुआ तो गवर्नमेन्ट ने स्त्री-शिक्षा-प्रचार के लिए पब्लिक संस्थाओं से फिर विशेष रूप से अपील की और उदार सहायता देने का भी वचन दिया; परन्तु यह सब होने पर भी जहाँ तक देहातों का सम्बन्ध है, स्त्री-शिक्षा में उन्नति तो अवश्य हो रही है, परन्तु वह अभी तक सन्तोपजनक नहीं है।

लड़कियों के स्कूलों का पाठ्यक्रम अब तक वही चला आ रहा था जो लड़कों के स्कूलों का था, परन्तु सन् १९०८ से इसमें कई परिवर्तन कर दिये गये हैं। लड़कियों के लिए हिसाब की पढ़ाई पहले से हलकी कर दी गयी है और उनके लिए विशेष मिडिल वर्नाक्यूलर परीक्षा का आयोजन किया गया है। इस परीक्षा का कोर्स लड़कों की पढ़ाई की अवधि से एक साल कम है। साथ ही लड़कियों को लड़कों का कोर्स लेने की मनाही भी नहीं है। लड़कियों के स्कूलों में सीना-पिरोना अनिवार्य कर दिया गया है और उनके लिए भापा की पुस्तकें भी अलग बनायी गयी हैं। इसी प्रकार लड़कियों के स्कूल में पढ़ने का समय, पाठ्यक्रम और परीक्षा के सम्बन्ध में, जनमत की आलोचनाओं पर पूरा ध्यान रखने का यथेष्ट प्रयत्न किया गया है।

परन्तु यह बड़ी निराशाजनक बात है कि लड़कियों की शिक्षा के लिए शिक्षा-विभाग के ७० वर्ष के निरन्तर प्रयत्न के बाद भी आज ग्रामीण-स्कूलों में लड़कियाँ बहुत थोड़ी तादाद में पढ़ रही हैं। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि हिन्दुस्तान में (विशेष कर संयुक्त प्रान्त में) लड़कियों की शिक्षा को विशेष प्रकार की अड़चनों का सामना करना पड़ रहा है। परदे का रिवाज, छोटी उमर के विवाह, घर के काम-काज का दबाव—ये सब मिल कर हमारे प्रान्त की लड़कियों की शिक्षोन्नति में बहुत बड़ी बाधाएँ डालते हैं। गाँवों में शहरों की बनिस्बत और भी अनेक कठिनाइयाँ बड़ा भीषण रूप धारण किये हुए हैं। लड़कों के पढ़ने-लिखने में तो आर्थिक प्रलोभन की भी बात मौजूद है, क्योंकि शिक्षित होने पर उनको किसी प्रकार की भी नौकरी मिल जाने की सम्भावना रहती है; परन्तु लड़कियों के सम्बन्ध में यह बात भी नहीं है।

कुछ लड़कियों के माता-पिता इस बात पर आर्थिक दृष्टिकोण से भी विचार करते हैं। उन्हें लड़कियों के शादी-व्याह में इतना अधिक ख़र्च करना पड़ता है कि इच्छा रहने पर भी वे उनको शिक्षा में बहुत ही कम खर्च कर पाते हैं। अधिकांश परिस्थितियों में तो यह थोड़ा ख़र्च नहीं के बराबर ही होता है। फिर लड़कियों का स्वास्थ्य (जिसके कारणों का विवेचन करना यहाँ आवश्यक नहीं है) इतना कोमल होता है कि उस पर छात्र-जीवन का बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। सन् १९१२ की रिपोर्ट में लिखा है

कि स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ी समस्या यह है कि लड़कियाँ कोमलाङ्गी होती हैं और उनके स्वास्थ्य पर इस शिक्षा का चिन्ताजनक प्रभाव पड़ने से बोर्डिङ्गहाउस में रह कर पढ़ने वाली और स्कूल से पास होकर निकलने वाली लड़कियाँ साल-दो साल बाद ही क्षय रोग-ग्रस्त पायी जाती हैं। इससे प्रायः यह प्रकट होता है कि वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूल तक पढ़ाई जारी रखने की भी क्षमता उनके स्वास्थ्य में नहीं है और इसीलिए अक्सर लोगों की शिकायत है कि इनका पाठ्यक्रम कम कर दिया जाय।

परन्तु लड़कियों की शिक्षा के सम्बन्ध में लोगों की उदासीनता का मुख्य कारण यह है कि वे लड़कियों के लिए इस शिक्षा के उपयोगी होने में विश्वास नहीं रखते। लड़कों के सम्बन्ध में तो वे इसका वहिष्कार नहीं कर सकते, परन्तु लड़कियों को तो ऐसी आत्मविहीन शिक्षा को छूत से वे बचाना ही चाहते हैं, जो उन्हें मातृत्व के अयोग्य कर देती है और जिसके कारण हमारे हिन्दुस्तानी घरों में बड़ो जबरदस्त गृह-कलह और सामाजिक उपद्रव उठ खड़े होने की सम्भावना है। स्त्रियों की शिक्षा केवल गृहस्थी के आनन्द और सुविधा पर ही अवलम्बित नहीं है, बल्कि सर्वसाधारण के लिए इसकी सांस्कृतिक और धार्मिक महत्ता भी अधिक है। जब तक हमारे यहाँ स्त्रियाँ की हिन्दू या मुसलमान बनी रहेंगी, हमारा भविष्य सुरक्षित रहेगा, और हमारी अपरिवर्तनशीलता का दुर्ग पश्चिम के सांस्कृतिक और सामाजिक क्रान्तिकारी विचारों से सुरक्षित रहेगा।

परदे के भीतर रहने पर भी हमारी स्त्रियों का हमारे गृह-जीवन तथा हमारे राष्ट्रीय जीवन पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है, इस बात को अन्य देशवासी वड़ी मुश्किल से समझ सकते हैं। लोगों को इस बात में कोई आपत्ति नहीं है कि उनकी स्त्रियाँ, बहनें और लड़कियाँ पुस्तकें पढ़ें अथवा चिट्ठी-पत्री लिखें, परन्तु उन्हें 'स्कूलों' में भेज कर पढ़ने का विरोध अब भी बहुत अधिक मौजूद है। फिर गाँवों में तो अभी निकट भविष्य में भी इसमें कुछ अधिक सुधार होने की सम्भावना नहीं दिखायी देती।

इन बातों के साथ ही साथ लड़कियों की गृह-शिक्षा और स्कूली-शिक्षा के आपेक्षिक महत्त्व के सम्बन्ध में भी लोगों की रायों में बड़ा अन्तर है। घर पर रह कर हमारे यहाँ की लड़कियाँ अपने कुल की परम्परा, गान, पूजा-अर्चा इत्यादि ही नहीं सीखतीं, वरन् उन्हें भोजन बनाने और कपड़े सीने की परम उपयोगी और व्यावहारिक शिक्षा भी मिल जाती है। साथ ही साथ घर पर रह कर उन्हें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से धार्मिक शिक्षा भी प्राप्त होती है, परन्तु अगर वे स्कूल में पढ़ने भेज दी जाती हैं तो उन्हें इस गृह-शिक्षा के प्राप्त करने के लिए बहुत कम समय मिलता है। फिर हमारे समाज की आधुनिक परिस्थिति को देखते हुए यह गृह-शिक्षा ही अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है। स्कूलों की शिक्षा में तो किताब पढ़ने के अतिरिक्त व्यावहारिक शिक्षा बहुत कम है और जो बात हमारे यहाँ के साधारण

गृहस्थों को इस शिक्षा में बहुत अधिक खलती है वह यह है कि इस स्कूली शिक्षा का प्रभाव गृह-शिक्षा के प्रभाव के बिल्कुल विरुद्ध पड़ता है। इसलिए बहुत से गृहस्थ, जो अपनी लड़कियों को शिक्षा देने के विरोध में नहीं हैं, यह अनुभव करते हैं कि अगर वे इस उपयोगी गृह-शिक्षा के बदले कुछ अंश में स्कूल की किताबी शिक्षा का परित्याग करा देते हैं तो उनकी लड़कियों का अधिक अहित नहीं होता।

स्त्री-शिक्षा-प्रचार की मन्दोन्नति के मुख्य कारणों का विवेचन किया जा चुका है। इसके साथ यह भी बताया जा चुका है कि हमारे यहाँ की स्त्री-शिक्षा की निकृष्टता भी इसका एक मुख्य लक्षण है। इसका एक कारण यह भी है कि हमारे यहाँ योग्य अध्यापिकाओं की बहुत कमी है। सन् १९२२ की पंचवर्षीय शिक्षा-रिपोर्ट में हमारे यहाँ के डाइरेक्टर मिस्टर मेकेञ्जी ने लिखा है कि हमारे प्रान्त के हर ज़िले से इस बात की शिकायत आती है कि लड़कियों के स्कूलों में पढ़ाने के लिए योग्य अध्यापिकाएँ नहीं मिलतीं। इसका कारण यह है कि हमारे देश में ऐसी स्त्रियों के विरुद्ध, जो अपनी जीविका के प्राप्त करने के लिए काम करती हैं, बड़ा वक्रीभाव मौजूद है और जब स्त्रियाँ अपनी जीविकावृत्ति के कारण परदे के बाहर और अकेली रहने लगतीं हैं, तो उनको हमारा समाज एक आँख भी नहीं देख सकता। इस सम्बन्ध में इसी रिपोर्ट में स्पष्ट लिखा हुआ है कि पढ़ी-लिखी अध्यापिकाओं का

वातावरण अधिकतर सूना ही रहता है, परन्तु अगर वे अपने कुटुम्ब से दूर, परदे में रहती हैं तो उनकी अवस्था अवर्णनीय हो जाती है। फिर अगर वे पुरदे के बाहर निकल आती हैं तो उन्हें भूल कर भी हमारा समाज क्षमा नहीं करता और ऐसे स्कूलों में भले घरों की अधिक लड़कियाँ भी पढ़ने नहीं जातीं।

परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि हमारे देश में किसी भी योग्यता की अध्यापिकाएँ नहीं मिलतीं और अध्यापिकाओं की अयोग्यता का प्रभाव शिक्षा-प्रणाली पर पड़े बग़ैर नहीं रह सकता। इसीलिए प्रायः लड़कियों के स्कूलों में भी बूढ़े पण्डित और मौलवी पढ़ाते हुए नज़र आते हैं और यह बहुधा देखा गया है कि ऐसे स्कूलों की पढ़ाई और उनका अनुशासन उन स्कूलों से कहीं अच्छा है, जिनमें ऐसी कम-शिक्षित, बग़ैर ट्रेनिङ्ग प्राप्त और अनुभवशून्य अध्यापिकाएँ पढ़ाती हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हमारे देश के देहातों में अभी स्त्री-शिक्षा की समस्या का कोई समाधान दृष्टिगोचर नहीं होता। जब तक हमारे यहाँ लड़कों की शिक्षा का अधिक प्रचार न हो जाय और लोगों के दिलों में उनकी शिक्षा की उपयोगिता में विश्वास न बैठ जाय, उस समय तक हमारे यहाँ के गाँवों में ही नहीं, बल्कि क़स्बों और शहरों में भी स्त्री-शिक्षा के प्रचार की ऐसी ही मन्द गति बनी रहेगी।

दूसरा परिशिष्ट

अध्यापकों का शिक्षण

हमारे देश में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के प्रारम्भ से सब से बड़ा क्रान्तिकारी जो परिवर्तन हुआ, वह शायद हमारे अध्यापकों के दृष्टिकोण और उनकी स्थिति में हुआ है। पुराने ज़माने में गाँव की पाठशाला के पण्डित, गाँव वालों की सहायता और गुण-ग्राहकता पर अवलम्बित रहते थे और चूँकि वे एक तरह से गाँव के सेवक होते थे, इसलिए उन्हें गाँव वालों की सद्भावना और उनकी सहायता अपेक्षित थी। फिर उनके अपने शिक्षण-क्रम के सम्बन्ध में उनसे कोई पूँछ-ताँछ करने वाला नहीं था और इसलिए अपनी पाठशाला के भीतर वे पूर्णरूप से स्वतन्त्र थे।

परन्तु अर्वाचीन शिक्षा की नियमबद्धता के कारण वे अछूते न बच सके हैं। शासन की ओर तो ये अध्यापक इस नये शासन-विधान की मशीन के एक निर्जीव पुर्जे की भाँति बन कर, अपना सारा व्यक्तित्व खो बैठे हैं और शिक्षण की ओर इनके ऊपर इनका पथ-प्रदर्शन करने, इनके काम तथा इनकी योग्यता की जाँच और इनकी भूलों का संशोधन करने के लिए निरीक्षक मौजूद हो गये हैं। ऐसी अवस्था में वह केवल अयोग्य ही नहीं समझे गये, वरन् ऐसे अविश्वास के पात्र बन गये हैं कि गाँव

के स्कूलों में दरजा चढ़ाने का इम्तहान भी इन्सपेक्टर लोग लेने लगे हैं। इस कारण न केवल उनकी अहम्मन्यता ही जाती रही है, वल्कि उनके आत्म-सम्मान में भी बहुत कुछ ठेस लगी है। इस परिवर्तित परिस्थिति में उन्हें यह भी अनुभव हुआ है कि अब गाँव वालों के साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध रखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अब तो उनकी दृष्टि गाँव की ओर से मुड़ कर सरकारी शिक्षा-विभाग की ओर हो चली है। इसके साथ ही साथ चूँकि अब इन अध्यापकों को किसी भी समय, कहीं भी बदल कर भेजा जा सकता है, इसलिए अब उनको कोई ऐसी आवश्यकता नहीं रही कि वे गाँव वालों के सुख-दुख में शरीक हों और उनकी समस्याओं के सुलझाने में कोई उत्साह दिखावें।

अध्यापकों की स्थिति के इस परिवर्तन के साथ-साथ अर्वाचीन स्कूलों में धार्मिक शिक्षा न होने और इन का वातावरण बिलकुल लोकोपकारी और सरकारी नियन्त्रण से परिपूर्ण हो जाने के कारण, गाँव वालों का व्यवहार भी इन अध्यापकों की ओर से बिलकुल बदल गया है, क्योंकि पहले जमाने में अध्यापक की प्रतिष्ठा उसके धार्मिक आचरण और धार्मिक शिक्षा के कारण होती थी, परन्तु वह इस नये वातावरण में बहुत दिनों तक न चल सकती थी। फिर इसके साथ ही साथ अध्यापकों की नियुक्ति में सरकारी शिक्षा-विभाग ने जो क्रान्तिकारी और असंयत परिवर्तन कर डाले—यहाँ तक कि कभी-कभी ब्राह्मणों और

ठाकुरों की बस्तियों वाले गाँवों में भी नीच जाति के लोगों को अध्यापक नियुक्त कर दिया—इससे तो उनकी रही-सही परम्परागत प्रतिष्ठा बिलकुल ही जाती रही; क्योंकि अर्वाचीन अध्यापक को लोग सरकारी कर्मचारी समझने लगे हैं और इसी हैसियत से उसके साथ व्यवहार करने लगे हैं।

यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है कि गाँव की इन पाठशालाओं में पढ़ाने वाले अध्यापक इस लोकोपकारी शिक्षा के लिए बिलकुल अयोग्य थे और इसलिए आरम्भ से ही शिक्षा-विभाग के अधिकारी इन्हें ट्रेनिङ्ग देने के पक्ष में थे। इसलिए १८५२ ई० में आगरे में एक सेन्ट्रल तहसीली स्कूल खोल कर ज़िले के हलक़ाबन्दी और तहसीली स्कूल के मास्टरों के शिक्षण का प्रबन्ध किया गया था। सबसे पहला नार्मल स्कूल १८५५ ई० में स्थापित हुआ। इसमें हलक़ाबन्दी स्कूलों के १०० अध्यापकों का ४ महीने तक शिक्षण किया गया। इस नार्मल स्कूल का उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा अध्यापकों को शिक्षण-सिद्धान्त और कक्षा-नियन्त्रण का थोड़ा-बहुत आभास करा दिया जाय। सुयोग्य और सुशिक्षित अध्यापकों की उस समय इतनी अधिक आवश्यकता थी और उनके शिक्षण के लिए इतना अल्प प्रबन्ध था कि किसी प्रकार का शिक्षण न होने से तो यह ४ महीने की ट्रेनिङ्ग ही पर्याप्त समझी गयी। इसके बाद सन १८५६ और १८५७ ई० में मेरठ और बनारस में दो नार्मल स्कूल और खोले गये और इनका शिक्षण-क्रम बढ़ा कर एक साल का कर दिया गया।

१८६४ ई० में अवध में एक नार्मल स्कूल खोला गया। लेकिन यहाँ की प्रणाली दूसरी ही थी। इसमें एक ऊँचा और दूसरा नीचा—दो विभाग कर दिये गये थे। ऊँचे विभाग में तहसीली स्कूलों के पढ़ाने के लिए और नीचे में प्रारम्भिक पाठशालाओं में पढ़ाने के लिए अध्यापकों का शिक्षण होता था। नीचे विभाग के पाठ्यक्रम में हिन्दी या उर्दू, हिसाब, भारतवर्ष का साधारण भूगोल, नक़शा खींचना, और हिसाब पैमाइश के अतिरिक्त 'अध्यापकों की मैनुएल' नाम की एक किताब भी पढ़ाई जाती थी। ऊँचे विभाग के पाठ्यक्रम में ऊँचे दरजे की पैमाइश, बीजगणित और यूक्लिड की पहली तीन पुस्तकें और भाषा की ऊँचे दरजे की पुस्तकें नियत थीं। इन अध्यापकों को शिक्षण-विधि का भी अभ्यास कराया जाता था। १८७४ ई० से अन्य नार्मल स्कूलों में भी यही दोनों विभाग खोल दिये गये।

इन नार्मल स्कूलों में शिक्षा पाने के लिए वर्नाक्युलर मिडिल-पास नवयुवक चुने जाते हैं और चूँकि इनमें से अधिकांश गाँवों से आते हैं, इसलिए इनका दृष्टिकोण बहुधा संकुचित होता है। कुछ समय बाद जब नार्मल स्कूलों में पढ़ने के लिए काफ़ी अध्यापक आने लगे और जब शिक्षण-क्रम की उन्नति के साथ-साथ उनको साधारण स्कूली विषयों की उच्च शिक्षा देना भी आवश्यक समझा गया, तो नार्मल स्कूलों का शिक्षण-क्रम बढ़ा कर दो वर्ष के लिए कर दिया गया। इस नये विधान की उपयोगिता का जितना समर्थन किया जाय, पर्याप्त ही होगा,

क्योंकि यही अध्यापक जो स्वयम् मिडिल की कक्षा तक पढ़े होते हैं, दो वर्ष बाद उसी कक्षा को पढ़ाने के लिए नियुक्त कर दिये जाते हैं और यदि यही लोग प्रारम्भिक स्कूलों में पढ़ाने के लिए भेज दिये जाँय, तो यह उन स्कूलों के सबसे ऊँचे दरजे के लड़कों से केवल ३ ही साल अधिक पढ़े होते हैं।

नार्मल स्कूलों में ग्रामीण स्कूलों की आवश्यकताओं के अनुसार ऐसे नये विषयों की पढ़ाई, जैसे व्यायाम, फ्रीहैण्ड और ब्लैकबोर्ड ड्राइङ्ग, प्रकृति-पाठ, वस्तु-पाठ, मट्टी के खिलौने बनाने और मैनुएल ट्रेनिङ्ग आदि बढ़ायी गयी है। इनमें से पिछले दो विषय आवश्यक और अन्य वैकल्पिक होते हैं। सन् १९०२ में मुरादाबाद के नार्मल स्कूलों में कृषि सिखाने के लिए एक विशेष कक्षा जाँच के तौर पर खोली गयी थी। इसके द्वारा अध्यापकों को कृषि के सिद्धान्त सिखा कर ग्रामीण पाठशालाओं में कृषि-अध्यापक बनाने का प्रयत्न किया गया था, परन्तु चूँकि हमारे यहाँ की ग्रामीण जनता में इस प्रकार के शिक्षण की कोई माँग नहीं हुई, इसलिए यह कक्षा बन्द कर देनी पड़ी।

कुछ समय बाद ३ और नार्मल स्कूल खोले गये और अब हमारे प्रान्त में नार्मल स्कूलों की संख्या ८ हो गयी है। प्रान्त की आवश्यकताओं के विचार से नार्मल स्कूल केवल थोड़े ही अध्यापकों का शिक्षण कर सकते हैं। ऐसे अध्यापक वर्नाक्युलर मिडिल और प्राइमरी स्कूलों में हेडमास्टर नियुक्त हो जाते हैं, परन्तु ग्रामीण स्कूलों के अध्यापकों की बड़ी संख्या तो अर्वाचीन शिक्षा

के प्रभाव से बिलकुल ही वञ्चित रहती है। इन अध्यापकों को वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का ज्ञान कराने और उनके संकुचित दृष्टिकोण को विस्तृत करने के विचार से, सन् १९०२ ई० में ग्रामीण अध्यापकों के सम्मेलन की योजना जारी की गयी। यह काफ़ी सफल सिद्ध हुई और इससे यह अच्छी तरह विदित हो गया कि गाँव के अध्यापक भी नवीन शिक्षा-प्रणाली को सीखने के लिए उत्सुक हैं।

परन्तु इन सम्मेलनों के अवसर पर जो नयी बातें मालूम होती थीं, वे इतनी साधारण थीं कि उन्हें किसी प्रकार की शिक्षण-योजना का नाम नहीं दिया जा सकता। इस समय तक यह भी प्रमाणित हो चुका था कि नार्मल स्कूलों के शिक्षण के अतिरिक्त गाँव के स्कूलों के अध्यापकों की ट्रेनिङ्ग के लिए—इन स्कूलों के बहुत अधिक खर्चीले होने पर भी—और कोई साधन उपस्थित न थे। इसलिए शिक्षा-विभाग के अधिकारियों को यह आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि इन अध्यापकों को शिक्षण-सिद्धान्त और शिक्षण-विधि सिखाने के अतिरिक्त, उन्हें उपयुक्त अधिकारियों के निरीक्षण में शिक्षा देने का व्यावहारिक अभ्यास कराने के लिए कोई सरल और कम खरचीली सुविधा उपस्थित करना जरूरी है। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १९०५ में अध्यापकों को शिक्षण-कक्षाएँ (टीचर्स ट्रेनिङ्ग क्लास) खोली गयीं। इन कक्षाओं में नार्मल स्कूल में शिक्षा-प्राप्त किसी प्राइमरी स्कूल के अध्यापक के पास ६ से लेकर ८ की संख्या तक अध्यापन-वृत्ति के लिए

चुने हुए उम्मेदवार रख दिये जाते हैं। इन उम्मेदवारों का प्राय: आधा दिन शिक्षण-सिद्धान्त सीखने में अथवा पाठ्य विषयों के विशेष अध्ययन करने में लग जाता है और आधा दिन अपने अध्यापक, तथा अन्य किसी ट्रेनिङ्ग-प्राप्त शिक्षक के निरीक्षण में बालकक्षाओं तथा प्राइमरी कक्षाओं के पढ़ाने में व्यतीत होता है।

यह ट्रेनिङ्ग प्राय: एक वर्ष तक जारी रहती है। इसके बाद इन उम्मेदवारों की बोर्ड द्वारा परीक्षा ली जाती है, जिसका प्रधान असिस्टैन्ट इन्स्पेक्टर होता है। गाँव की प्रारम्भिक पाठशालाओं के अध्यापकों को ट्रेनिङ्ग देने के लिए यह बड़ा सस्ता और सुगम तरीक़ा है और इसमें अधिक खर्च भी नहीं होता। इसके द्वारा साधारणतया एक बहुत बड़ी कमी की पूर्त्ति हो गयी है।

हमारे प्रान्त में अध्यापिकाओं की ट्रेनिङ्ग के लिए ३ नार्मल स्कूल हैं, जिनमें प्राय: क़स्बाती स्कूलों के लिए अध्यापिकाएँ ट्रेनिङ्ग पाती हैं। स्त्री-समाज की विशेष सामाजिक परिस्थितियों के कारण, अध्यापिकाओं के लिए ऐसे ट्रेनिङ्ग क्लास स्थापित नहीं किये जा सकते।

नार्मल स्कूलों से शिक्षा प्राप्त कर जो अध्यापक निकलते हैं, वे प्राय: मेहनती होते हैं और साधारण शिक्षण का काम भी अच्छा कर लेते हैं, परन्तु उनमें न तो सक्रियता होती है और न कालानुवर्तिता। इस कमी के लिए कुछ हद तक तो नार्मल स्कूल की शिक्षा उत्तरदायी है और कुछ अंश में ग्रामीण पाठशालाओं और उनके वातावरण का दोष है। यद्यपि अब बहुत-कुछ परिवर्तन

होते चले जा रहे हैं, फिर भी नार्मल स्कूल अब भी बहुत सी असुविधाओं से दबे हुए हैं।

पुराने ज़माने में तो इन नार्मल स्कूलों के अधिकांश अध्यापक ट्रेनिङ्ग-प्राप्त नहीं थे और अब भी शायद कुछ ऐसे स्कूल हों, जिनमें ऐसे शिक्षक मौजूद हों। फिर हर नार्मल स्कूल के साथ एक ही माडल स्कूल होने के कारण उनमें पढ़ने वाले उम्मेदवारों को शिक्षण देने की सुविधाएँ भी बहुत कम मिलती हैं। तीसरे, नार्मल स्कूल प्रायः बड़े-बड़े शहरों में ही हैं, जहाँ रह कर ये उम्मेदवार-अध्यापक शहरों और क़स्बों की परिस्थिति से तो विज्ञ हो जाते हैं, परन्तु गाँवों के विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को समझने का, जिनसे उन्हें आगे चल कर काम पड़ता है, उन्हें कोई अवसर नहीं मिलता। चौथे, इन नार्मल स्कूलों की शिक्षण-प्रणाली की परम्परा ऐसी संकुचित हो गयी है कि उसमें शीघ्र ही उदारता लाना एक बड़ी जटिल समस्या है। सन् १९११-१२ की शिक्षा-रिपोर्ट के यह आश्वासन देने पर भी कि 'नार्मल स्कूलों में अपरिवर्तनशील और अबोधयुक्त पद्धतियों का निषेध कर दिया गया है,' यह बातें अक्षरशः सत्य हैं। निकट भविष्य में इसमें कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की भी सम्भावना नहीं मालूम होती, क्योंकि (डि ला फ़ोस साहब के शब्दों में) 'ऐसे लोगों से कुछ अधिक आशा नहीं की जा सकती, जिनका दृष्टिकोण बहुत कुछ संकुचित है और उपस्थित परिस्थितियों के कारण काफ़ी समय तक संकुचित रहेगा भी।'

इन सब बातों के अतिरिक्त उर्दू-हिन्दी में शिक्षा-प्रणाली पर बहुत कम पुस्तकें मौजूद हैं और जो थोड़ी-बहुत हैं भी, वे केवल रटा कर याद कराने के काम की हैं। फिर हमारे गाँवों में ऐसे पुस्तकालय भी नहीं हैं, जहाँ जाकर यह अध्यापक कुछ पढ़ कर अपने ज्ञान की वृद्धि या अपने पढ़ने के शौक़ को ही पूरा कर सकें। नार्मल स्कूल में तो इनको अपने कोर्स की किताबों के पढ़ने से ही इतना समय नहीं बचता कि वे अपने स्कूल के तथा उस नगर के सार्वजनिक पुस्तकालयों से कोई लाभ उठा सकें।

हमारे यहाँ के शिक्षा-विभाग ने इस बात का बहुधा उल्लेख किया है कि इन मिडिल-पास उम्मेदवारों को अपनी मातृभाषा का ज्ञान बहुत साधारण होता है और यद्यपि पिगट कमिटी की सिफ़ारिश के अनुसार, मिडिल परीक्षा के पाठ्यक्रम में एक वर्ष की वृद्धि इसलिए कर दी गयी है कि इस ज्ञान की उन्नति हो जाय, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि इसमें आशाजनक सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। इन अध्यापकों के लिए हिन्दी और उर्दू साहित्य में विशेष परीक्षाएँ देने का भी आयोजन किया गया है, ताकि स्वाध्याय की ओर इनकी रुचि बढ़े और उसके लिए प्रोत्साहन मिले। इनकी रट कर याद करने की बुरी आदत नार्मल स्कूल में पहुँचने पर भी नहीं जाती, बल्कि यहाँ तो लिखित परीक्षा पास करने के उद्योग से इसको और अधिक प्रोत्साहन मिल जाता है।

हमारे गाँव की पाठशालाओं के अध्यापक, जो ग्रामीण जनता को अपने स्कूलों की ओर आकर्षित करने में अब तक असफल हुए हैं, उसका एक कारण तो यह है कि उनकी अपनी ट्रेनिङ्ग ही बहुत कुछ अव्यावहारिक होती है और फिर किताबों द्वारा शिक्षण-सिद्धान्त समझ लेने के अतिरिक्त उनमें इतनी क्षमता नहीं आ पाती कि वे अपने यहाँ की ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं को समझ कर अपने शिक्षण-क्रम को उसके उपयुक्त बना सकें।

अब हमारे यहाँ की गवर्नमेन्ट ने इस कमी का अनुभव कर लिया है, क्योंकि किचलू साहब की रिपोर्ट पर अपना मन्तव्य प्रकाशित करते हुए उसने लिखा है कि 'जहाँ तक इस शिक्षा के प्रचार में अध्यापकों का सम्बन्ध है, हमको अब ऐसे लोगों की आवश्यकता है, जो केवल शैशव-मनोविज्ञान ही में पारंगत न हों. बल्कि जो गाँव की जनता का भी अनुभव रखते हों। इसलिए हमारे यहाँ की ट्रेनिङ्ग में भी इस बात की अधिक सुविधाएँ उपस्थित होनी चाहिए, जिनसे गाँवों के भावी अध्यापकों को, न केवल शिक्षण-कला का ही पर्याप्त ज्ञान हो जाय, बल्कि उसके साथ ही साथ उनका सारा दृष्टिकोण भी ग्रामीण हो जाय।'

सारांश यह है कि समस्या तो समझ में आ गयी है, पर यह देखना है कि इसका हल किस प्रकार होता है।

तीसरा परिशिष्ट

ग्राम्य-शिक्षा का नियन्त्रण

सन् १८८३ में लार्ड रिपन का स्वायत्त शासन-विधान (लोकल सैल्फ गवर्नमेन्ट एक्ट) स्वीकृत हुआ। इसके अनुसार देहात में देसी भाषाओं की शिक्षा का नियन्त्रण स्वायत्त शासन-विभाग का मन्त्री छोटे लाट के नाम पर करता था और इसी विभाग द्वारा ग्राम्य-शिक्षा के धनकोष का भी नियन्त्रण होता था। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेअरमैन की हैसियत से जिला मजिस्ट्रेट इस सब खर्च का उत्तरदायी अफ़सर था। जिले के निरीक्षण-विभाग के कर्मचारी डिप्टी और सब-डिप्टी इन्सपेक्टरों की नियुक्ति डिस्ट्रिक्ट बोर्ड द्वारा होती है और प्रान्तीय शिक्षा-विभाग शिक्षा-सम्बन्धी मामलों में अपनी सम्मति देता है और इन्सपेक्टर और असिस्टेन्ट इन्स्पेक्टर स्कूलों की शिक्षा की देख-रेख करते हैं। सन् १९१२ में डिप्टी और सब-डिप्टी इन्सपेक्टरों की नियुक्ति प्रान्तीय शिक्षा-विभाग के अधीन कर दी गयी और उसी समय से ग्राम्य-शिक्षा-प्रणाली का केन्द्रीकरण आरम्भ हुआ। सन् १९१७ में एक शिक्षा बोर्ड स्थापित हुआ जिसे केवल सम्मति देने का ही अधिकार था। १९२५ ई० में

इसका पुनर्संगठन हुआ और इसका नाम बदल कर 'देसी भाषा शिक्षा बोर्ड' (बोर्ड आफ वर्नाक्यूलर ऐडुकेशन) कर दिया गया।

इसके बाद सन् १९२१ में नये शासन-सुधार का सूत्रपात हुआ और शिक्षा-विभाग का सारा नियन्त्रण नयी व्यवस्थापिका सभाओं के उत्तरदायी मन्त्रियों के अधीन कर दिया गया। इसी सिलसिले में देसी शिक्षा-प्रचार का कार्य स्वायत्त शासन-विभाग से लेकर प्रान्तीय शिक्षा-विधान के अधीन कर दिया गया और आय-व्यय भी उस विभाग के नियन्त्रण से हटा कर शिक्षा-विभाग को सौंप दिया गया। इन सब परिवर्तनों से शिक्षा-विभाग का काम बहुत बढ़ गया और उसकी सुव्यवस्था के लिए एक प्रधान निरीक्षक नियुक्त किया गया, जिसके पद का नाम देसी शिक्षा का प्रधान निरीक्षक हुआ, परन्तु बाद में यही पदाधिकारी शिक्षा-विभाग का डिप्टी डाइरेक्टर कहलाने लगा।

इस समय से अब तक ग्राम-शिक्षा का सारा काम इसी अधिकारी की देख-रेख में होता है। १९२२ ई० में युक्त प्रान्तीय डिस्ट्रिक्ट बोर्ड एक्ट स्वीकृत हुआ, जिसके अनुसार अब ज़िला बोर्डों का प्रधान ग़ैर-सरकारी लोगों को बनाया गया। इस प्रकार अब ग्राम्य-शिक्षा पर से ज़िले के अधिकारियों का नियन्त्रण हट गया और ज़िला बोर्डों को बहुत कुछ क्रियात्मक स्वतन्त्रता मिल गयी। इस प्रकार ग्राम्य-शिक्षा का सारा प्रबन्ध और नियन्त्रण गवनर और उसके सहकारी शिक्षा-मन्त्री के नाम पर शिक्षा-

विभाग के मन्त्री के हाथ में आ गया और यही अधिकारी ज़िला बोर्डों को सरकारी सहायता भी प्रदान करने लगा।

ज़िले में शिक्षा का प्रबन्ध ज़िला बोर्ड के ग़ैर-सरकारी चेयरमैन के अधिकार में दिया गया, जो अब निर्वाचित होने लगा है। इसके कुछ समय बाद यह अधिकार डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की शिक्षा-कमिटी के चेयरमैन को सौंप दिये गये। इस शिक्षा-कमिटी में १० या १२ सदस्य होने लगे, जिसमें ३ या चार सदस्य बोर्ड के बाहर से भी आ जाते हैं। इस शिक्षा-कमिटी को बोर्ड के सदस्यों में से अपना प्रधान निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया है और ज़िले का डिप्टी इन्सपेक्टर इस कमिटी का अपने पदाधिकार से मन्त्री होता है। इन ज़िला बोर्डों के अपने शिक्षाधिकारी नहीं होते, क्योंकि अब डिप्टी और सब-डिप्टी इन्स्पेक्टरों की नियुक्ति प्रान्तीय शिक्षा-विभाग द्वारा होती है। चूँकि इन डिप्टी और सब-डिप्टी इन्सपेक्टरों का कर्तव्य शासन सम्बन्धी भी है, इसलिए उन्हें ज़िला बोर्डों के अधीन रखा जाता है।

परन्तु इन अधिकारियों की स्थिति बड़ी विचित्र है। उनका वेतन तो प्रान्तीय शिक्षा-विभाग से मिलता है और अपने अधिकार-क्षेत्र के शिक्षा-सम्बन्धी मामलों में वे शिक्षा-विभाग के निरीक्षकों (इन्स्पेक्टरों) के प्रति उत्तरदायी हैं; किन्तु शासन और प्रबन्ध सम्बन्धी मामलों में उन्हें ज़िला बोर्डों की आज्ञानुसार काम करना पड़ता है। दूसरी ओर ज़िला बोर्ड भी इन

अधिकारियों पर सशंक दृष्टि रखते हैं, क्योंकि ये लोग बोर्ड के पूरे अधीन नहीं हैं। इधर इस ओर इन्स्पेक्टरों का शासनाधिकार भी बहुत कुछ कम कर दिया गया है और उनका बहुत अधिक कार्य अब सम्मति-प्रदान करने का रह गया है। ग्राम्य-स्कूलों का निरीक्षण वे अब भी पूर्ववत् करते रहते हैं।

इन सब परिवर्तनों का वास्तविक परिणाम यह हुआ है कि ग्राम्य-शिक्षा का शासन-प्रबन्ध अब पूर्णरूप से जनता के सदस्यों के अधिकार में आ गया है और ग्राम्य-शिक्षा सम्बन्धी नीति का प्रतिपादन और उसका निर्णय शिक्षा-विभाग के निर्वाचित मन्त्री के हाथ में है, जो प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी है।

चौथा परिशिष्ट

पाठशाला जाने योग्य बालकों की अवस्था

इस समय यह समझा जाता है कि स्कूल जाने योग्य अवस्था वाले बालकों की संख्या हमारे प्रान्त में १५ प्रतिशत के लगभग है और अनिवार्य शिक्षा के योग्य ६ से ११ वर्ष की अवस्था वाले लड़कों की संख्या का अनुमान १३ प्रतिशत किया गया है। विभिन्न अधिकारियों और शिक्षा-विशारदों के अनुमान भी इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न हैं। १८७१-७२ ई० की हमारे प्रान्त की शिक्षा रिपोर्ट में मिस्टर केमसन ने लिखा है :—

'इस प्रान्त की जन-संख्या और उसके क्षेत्रफल के सम्बन्ध में इतनी बातों का ब्यौरा देने के पश्चात् अब हम जिन साधारण परिणामों पर पहुँचते हैं, उनमें दो बातें विचारनीय हैं। पहली तो यह है कि इस देश में स्कूल जाने योग्य बालकों की आयु क्या होती है, और दूसरी यह कि इस आयु के लड़के देश की जन-संख्या का कौन सा अंश हैं। इस वर्णन में अपनी जाँच को हम केवल लड़कों की संख्या तक ही परिमित रखते हैं, क्योंकि ऐसी गणना के लिए लड़कियों की पाठशालाओं की संख्या तो प्रायः नगण्य सी है। मिस्टर टॉमसन ने सन् १८४५ के अपने सर्क्युलर आर्डर में ज़िले के कलक्टरों की सूचना के लिए स्कूल जाने योग्य

लड़कों की आयु का यह अनुमान किया था कि ५वें वर्ष के आरम्भ से १५वें वर्ष के आरम्भ तक बालकों को शिक्षा मिलनी आवश्यक है। हमारे देश के रीति-रिवाज के अनुसार तो यह कथन ठीक होता है, परन्तु ६ वर्ष से कम उम्र वाले लड़कों की संख्या वास्तव में मुश्किल से ४ प्रतिशत ही पायी गयी है। इसी प्रकार १५ वर्ष से ऊपर की आयु के जो लड़के स्कूलों में पढते हुए पाये गये हैं, उनकी संख्या का अनुमान भी इससे अधिक नहीं है, इसलिए बिना किसी प्रकार के विरोध के भय से यह कहा जा सकता है कि अगर हमारे यहाँ के स्कूलों में पढ़ने वाले लड़कों की आयु की ठीक-ठीक जाँच की जाय, तो ९० प्रतिशत लड़के ६ से लेकर १६ वर्ष तक की आयु के मिलेंगे। सन् १८५०-५१ में मिस्टर रीड ने २६,५५० और ३४,२०० लड़कों की आयु का बड़ी मेहनत से निरीक्षण किया, तो उन्हें मालूम हुआ कि इनमें से ९० प्रतिशत लड़के ६ से लेकर १६ वर्ष तक की आयु के थे।

जर्मनी में अनिवार्य शिक्षा योग्य बालकों की आयु ६ से १४ वर्ष तक रखी गयी है, परन्तु वहाँ भी १४ वर्ष से अधिक आयु के लड़के स्कूलों में पढ़ते हुए पाये जाते हैं। युरोप में तो अन्न बाल-कक्षाओं के विद्यार्थियों की आयु ४ वर्ष और कभी-कभी ३ वर्ष तक होती है। यही कारण है कि इङ्गलैण्ड की शिक्षा-काउन्सिल के कमिश्नर ने प्रारम्भिक स्कूलों के सम्बन्ध में १८७० ई० में जो गणना की थी, उसमें स्कूलों में पढ़ने वाले बालकों में ६३

प्रतिशत की आयु ९ वर्ष से कम बतलायी गयी थी। इस अनुमान में बाल-कक्षाओं के लड़कों की गणना हो जाने के कारण, युरोप में अनिवार्य शिक्षा-प्राप्त करने वाले लड़कों की आयु का औसत ४ से १५ वर्ष तक आ जाता है, परन्तु चूँकि हमारे देश में ऐसे बाल-कक्षा वाले स्कूल नहीं हैं, इसलिए मिस्टर टामसन और एडम दोनों के अनुमान के अनुसार हमारे यहाँ स्कूल में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की आयु ५ से १५ वर्ष तक ही समझनी चाहिए। १८६२ ई० में कलकत्ते से प्रकाशित एक और प्रामाणिक ग्रन्थ में भी युरोप के देशों की भारतवर्ष से तुलना करने पर यही आयु मानी गयी है।

परन्तु हमारे यहाँ ठीक-ठीक आँकड़ों के अभाव में यह बात ठीक-ठीक नहीं बतायी जा सकती कि हमारे देश की जन-संख्या का कौन सा अंश इस आयु वाले बालकों को प्रदर्शन करता है। इसलिए इसका बतलाना सहल नहीं है कि हमारे देश के स्कूलों में पढ़ने योग्य आयु वाले लड़कों की कौन सी संख्या शिक्षा पा रही है। मिस्टर टॉमसन के अनुमान के अनुसार यह संख्या हमारे देश की जन संख्या का बारहवाँ भाग मानी जानी चाहिए। मिस्टर फिंक ने सन् १८४६-४७ में इसी आधार पर अपनी गणना की थी, परन्तु उन्होंने तीन बड़ी अनोखी बातें और बढ़ा दी हैं। इटावे के कलक्टर मिस्टर अलेक्ज़ेन्डर ने अपने ज़िले में पढ़ने योग्य बालकों की संख्या का अनुमान ज़िले की आबादी का पाँचवाँ हिस्सा बतलाया है। मुरादाबाद के कलक्टर मिस्टर

विल्सन आठवाँ हिस्सा बतलाते हैं और आज़मगढ़ के कलक्टर मिस्टर म्योर छठा हिस्सा।

इसके बाद की एक रिपोर्ट में मिस्टर पियर्सन ने कालपी ज़िले के विद्यार्थियों की संख्या को जन-संख्या का छठा हिस्सा बतलाया है और जिस होशियारी के साथ कालपी, जलालपुर और कोंच के परगनों में जातिवार गणना की गयी थी, उससे प्रकट है कि इस संख्या में लड़कों के साथ लड़कियों की कोई गणना शामिल नहीं है। इसी प्रकार मैनुएल आफ़ युनिवर्सिटीज़ के लेखक का विश्वास है कि भारतवर्ष की जन-संख्या के ग्यारहवें भाग में उन लड़कों को सम्मिलित करना चाहिए, जो स्कूल में पढ़ने योग्य आयु के होते हैं।

इङ्गलैण्ड की काउन्सिल आफ़ एडुकेशन को रिपोर्ट में लिखा है कि १,००० मनुष्यों में से ५ और १२ वर्ष की आयु के १८३ ही लड़के-लड़कियाँ वहाँ के स्कूलों में पढ़ती हैं। इससे प्रकट है कि उस ज़माने में इङ्गलैण्ड में इस आयु के लड़कों की संख्या, वहाँ की सारी जन-संख्या का ग्यारहवाँ भाग था और यह मेरठ ज़िले के कलक्टर मिस्टर प्लाउडन के कथन का समर्थन करती है। यह अधिकारी भारतवर्ष की जन-संख्या के गणना-सम्बन्धी काम में बहुत निपुण है और इसीलिए इनके मत का बहुत आदर किया जाता है। इन्होंने मुझे सूचना दी है कि हमारे प्रान्त में इङ्गलैण्ड की अपेक्षा वयस्कों से बालक अधिक अनुपात में हैं, इसलिए मैं इस सम्बन्ध में और अधिक

विवरण न देकर यह बतला देना चाहता हूँ कि हमारे प्रान्त की सरकार ने १८४५ ई० में पढ़ने योग्य लड़कों की संख्या जन-संख्या के अनुपात में बारहवाँ हिस्सा बहुत कम बतलायी थी। और मैं इन सब बातों का विचार करते हुए और यह मानते हुए कि इङ्गलैण्ड के स्वस्थ भोजन, जलवायु, सफ़ाई, और रोगोपचार की सुविधाओं का समीकरण इस देश के लोगों की ऊँची मृत्यु-संख्या से हो जाता है, अपने यहाँ के पढ़ने-योग्य लड़कों की संख्या को जन-संख्या का दसवाँ अंश मानने का तैयार हूँ।

पाँचवाँ परिशिष्ट

प्रान्तीय डाइरेक्टर और शिक्षा-मन्त्री

डाक्टर सी० वाई० चिन्तामणि	...	१९२१-२३
राजा परमानन्द ...	...	१९२३-२४
डाक्टर राय राजेश्वर बाली ...	...	१९२४-२८
राजा बहादुर कुशलपाल सिंह	...	१९२८-३०
डाक्टर सर ज्वालाप्रसाद श्रीवास्तव	...	१९३०-३७
„ श्री प्यारेलाल शर्मा	...	१९३७-

शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर

मिस्टर हेनरी स्टुअर्ट रीड, विज़िटर जनरल	...	१८४५-५४
„ „ डाइरेक्टर	...	१८५५-६२
मिस्टर एम० केम्पसन, एम० ए०,	...	१८६२-७७
„ आर० टी० ग्रिफ़िथ, एम० ए०	...	१८७७-८४
„ ई० ह्वाइट, ...	...	१८८४-९२
„ जे० सी० नेस्फ़ील्ड, एम० ए०	...	१८९२-९४
„ टी० सी० ल्युई, एम० ए०	...	१८९४-१९०६
सर क्लाड एफ० डि ला फॉस, सी० आई० ई०	...	१९०६-२२
डाक्टर ए० एच० मेकेंज़ी, सी० आई० ई०	...	१९२२-३४
मिस्टर एच० आर० हैरप, आई० ई० एस०	...	१९३४-३६
कर्नल आर० एस० वियर, आई० ई० एस०	...	१९३६-

१—स्कूल और छात्रों की संख्या और शिक्षा का व्यय

वर्ष	लड़कों के तहसीली या क़स्बाती स्कूल			लड़कों के प्राइमरी या हलक़ाबन्दी स्कूल		
	स्कूल	विद्यार्थी	ख़र्च (रुपयों में)	स्कूल	विद्यार्थी	ख़र्च (रुपयों में)
१८५१	५८	३,२०६	८२,५२१	१४	५६३	१,६८०
१८६१-६२	२४४	१४,९३५	५२,२०१	२,८२३	८४,३९२	१,२६,९००
१८७१-७२	२०६	११,९९४	५६,७३१	३,१४१	१,०२,१२६	३,५०,०००
१८८१-८२	४६२	३,८०३	६१,९१०	५,४०३	१,९०,२७२	६,२२,१५६
*१८९१-९२	३३३	६,००५†	१,८८,२९५	४,१८२	१,४७,७१४	६,१६,४४६
१९०१-२	३०१	८,८०३	१,०१,६१७	७,२६३	३,२४,६६६	११,६१,८०७
१९११-१२	३७५	४५,३७८	४,४०,४४१	६,२५८	४,८०,५४४	१६,४३,०५०
१९२१-२२	५५६	४३,०७४	१२,००,६४६	१५,४९६	७,८७,७३७	६२,९२,११०
१९३१-३२	७९४	९७,२५७	२४,५८,५९४	१९,८९३	११,४२,३२५	८५," ०,७६५

नोट—देहाती और शहराती स्कूलों के आँकड़े अलग अलग नहीं मिलते।* १८९१-९२ से वर्नाक्युलर, एँग्लो वर्नाक्युलर, और युरोपियन प्राइमरी स्कूलों के तथा उनके विद्यार्थियों के आँकड़े अलग-अलग नहीं दिखाये गये हैं। इसलिए निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि उस समय वर्नाक्युलर स्कूल कितने थे और उनमें विद्यार्थियों की क्या संख्या थी। † १८९२ के पूर्व बहुत से मिडिल (तहसीली) स्कूलों में प्राइमरी कक्षाएँ भी थीं। इस प्रकार सन् १८५१, १८६१-६२ और १८७१-७२ के तहसीली स्कूलों के विद्यार्थियों के आँकड़ों में प्राइमरी कक्षाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के आँकड़े भी सम्मिलित हैं।

२—स्कूलों के छात्र और छात्राओं की संख्या

वर्ष	(१) तहसीली स्कूलों में		(२) प्राइमरी स्कूलों में		(३) प्राइमरी कक्षा से लेकर युनिवर्सिटी तक की सभी प्रकार की संस्थाओं में लड़कों और लड़कियों की संख्या
	लड़कों की	लड़कियों की	लड़कों की	लड़कियों की	
१८५१	३,२०६	...	५६३	(अप्राप्त)	(अप्राप्त)
१८६१-६२	१४,६३५	...	८४,३६२	३६६	१,६७,४४५
१८७१-७२	११,६६४	...	१,०२,१२६	७,६१७	१,६३,१०६
१८८१-८२	३,८०३	६	१,६०,२७२	७,७१२	२,२५,५६६
१८६१-६२	६,००५	२२	१,४७,७१४	६,१०२	२,१७,३७८
१६०१-२	८,८०३	३१	३,२४,६६६	१४,४८६	३,६८,४६५
१६११-१२	४५,३७८	१,५७७	४,८०,५४४	३१,७४६	६,२१,५८८
१६२१-२२	४३,०७४	७,५३१	७,८७,७३७	४५,२०३	६,६५,०५६
१६३१-३२	६७,२५७	३१,०४४	११,४२,३२५	६१,८८६	१५,१२,७४७

नोट—लड़कों के प्राइमरी स्कूलों में बहुत सी लड़कियों के नाम दर्ज रहते हैं। इसलिए लड़कियों के स्कूल के खाने में जो संख्याएँ दी गयी हैं, उनसे उनकी संख्या कहीं अधिक है।

३—प्राइमरी स्कूलों की जातिवार छात्र-गणना

वर्ष	हिन्दू	मुसलमान	एँग्लो इण्डियन और हिन्दुस्तानी ईसाई	दूसरी जात के विद्यार्थी	जोड़
१८८१-८२	१,६५,४५६	३१,४८४	९२४	१२०	१,९७,९८४
१८९१-९२	१,३१,४२४	२१,७१७	३,४८९	१८६	१,५६,८१६
१९०१-२	२,८२,२६५	५०,१५२	६.६४२	१२६	३,३९,१८५*
१९११-१२	४,३७,००३	७१,९७६	२,१४९	१,१६५	५,१२,२९३
१९२१-२२	६,९६,२८९	१,३०,९१५	२,६५३	२,७ ५	८,३२,५६२
१९३१-३२	९,०८,९३१	१,९४,७७०	४,५७८	४,८६३,	११,१३,१४२

*इस संख्या में युरोपियन प्राइमरी स्कूल के २,५६८ विद्यार्थियों की संख्या भी शामिल है।

४—देसी स्कूल और उनके छात्र

वर्ष	शिक्षा देने वाले (स्कूल)						पूर्ण संख्या	
	भाषा की		संस्कृत फ़ारसी की		कुरान की		स्कूलों की	विद्यार्थियों की
	संस्थाएँ	विद्यार्थी	संस्थाएँ	विद्यार्थी	संस्थाएँ	विद्यार्थी		
१८४५							७,३६१*	६४,३३३
१८६१-६२	...	...	...	...	...	...	६,१५५	६१,४७४
१८७१-७२	...	...	...	...	...	...	४,६०८	५५,४५६
१८८१-८२	...	...	...	...	अ प्रा	प्त	...	...
१८९१-९२	२,६६१	३५,०६७	१,५६२	१७,६३३	१,२६१	१२,४९२	५,७८३	६५,१९२
१९०१-२	३,४०६	४९,६८८	१,१४५	१७,४७२	१,५२०	१७,११८	६,०७१	८४,२७८
१९११-१२	२,८१४	४४,३५६	८७०	१६,२२५	१,४९८	१६,८२७	५,१८२	८३,४०९
१९२१-२२	१,०३६	२२,३२४	६२९	१६,२९६	१,०७२	१८,१८३	२,७३७	५६,८०३
१९३१-३२	२,२९६	६१,०४९	७०८	१४,५१०	२,२३६	७४,५२७	५,२४०	१,५०,०८६

* झाँसी और कुमाऊँ के आँकड़े अप्राप्त हैं।
नोट—१८९१ ई० से अवध के स्कूलों के आँकड़े शामिल कर लिये गये हैं।

५—प्राइमरी और मिडिल स्कूलों का शिक्षा-व्यय

वर्ष	तहसीली (मिडिल) स्कूल		प्राइमरी स्कूल		प्राइमरी स्कूल में एक विद्यार्थी की शिक्षा का ख़र्च	देसी स्कूलों को छोड़ अन्य सब प्रकार की शिक्षा पर कुल ख़र्च (रुपयों में)
	लड़कों के	लड़कियों के	लड़कों के	लड़कियों के		
१८५१	८,३५२)	...	१६८०)	अप्राप्त	रु० आ० पा०	अप्राप्त
१८६१-६२	५२,२०१)	...	१,२६,६००)	५,७३१)	...	८,२५,४१६
१८७१-७२	५६,७३१)	...	३,५०,०००)	३३,६२२)	...	१५,१५,६८४
१८८१-८२	६१,६१०)	४२७)	६,२२,१५६)	५०,३४६)	३-४-३	२०,५५,४३२ §६,२८,८८५ *६,४७,३३४
१८९१-९२	१,८८,२६५)	१,२२१)	६,२४,०६५)	१०२१२४)	४-१२-६	३३,५३,३७६ §५,४८,७३० *१५,४५,७३०
१९०१-२	१,०१,६१७)	१३,०२०)	११,६१,८०७	२२४७७८)	४-५-६	४५,५६,४३२ §६,६४,६२६ *१५,८३,४२४
१९११-१२	४,४०,४४१)	३१,४६३)	१६,४३,०५०	२०३०५१)	३-८-१०	१,०७,६२,८३८ §३७,४६६४२ *३०,०८,१३४
१९२१-२२	१२,००,६४६	१,६६,४०३)	६२,६२,१००	४४६३६६)	८-१३-४	२,६८,१२,५६३ §१५६१४८२३ *४७,५७,२६४
१९३१-३२	२४,५८,५६४	६,०७,४४१)	८५,७०,७१५	६११५१०)	६-१३-८	३,८६,२८,३५८ §१३३७१५१७ *७५,३५,५००

*रुपया जो चुङ्गी, तथा स्थानीय और म्युनिसिपल फंड से खर्च किया गया।

§ रुपया जो प्रान्तीय आय से खर्च किया गया। शेष फ़ीस आदि से मिला था।